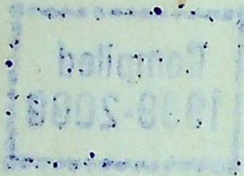




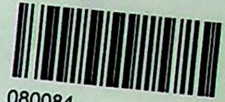


ओम्

संस्थापक : स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वर्ष ४ : अङ्क ६; जनवरी, १९८४

वेद-सविता



सतत प्रकाशन का ३६वां वर्ष

वेदमन्त्र-व्याख्या का भूतल पर एकमात्र पत्र

वेद-स्वाध्याय का श्रेष्ठ माध्यम

अँधेरे चीर दे जो सौ युगों के। वह 'सहगल' वेद-सविता की किरण है।

नूतन-वर्ष-अभीष्ट-चिन्तनम्

सु-वि+ज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच्च चासच्च च वचसी पस्पृधाते।
तयोर् यत् सत्यं यतरद् ऋजीयस्, तद् इत् सोमोवति हन्त्य आ+सत्।

वसिष्ठः मैत्रावरुणिः [चातनः]। सोमः। त्रिष्टुप्। ऋग्वेद ७.१०४. १२; अथर्ववेद ८.

१ (चिकितुषे जनाय सु-वि+ज्ञानम्) ज्ञानी जन के लिए सु-विज्ञान [कि]
२ (सत् च अ+सत् च वचसी) सत् और सद्-र[हि]त वचः (पस्पृधाते) स्पर्धा किया करते हैं।
३ (तयोः) उनमें से (यत् सत्यम्) जो [वचः] [सत्य] होता है], (यतरत् ऋजीयः) जो [वचः] ऋजुतम [होता है] (तत् इत्) उस[वचः]को ह[ी] (सो]मः अवा[ति]) सोम बचाता है
४ [पर] (अ+सत् हन्ति) सद्-रहित [वचः] को वह मारता है।

—अभयदेव

The words of Truth and falsehood are mutually at variance. Understands the man of [dis]crimination of these two. Soma, verily, cherishes that which is true and ri[ght a]nd he destroys the false.

—N. S. Sonatakke

२

अत्चा ह्यत् ता हॅम् मइन्यू। जसअे तॅम् पअोउ र्ॅम् दज्दे।
गअेम्चा अज्याइतीम्चा। यथाचा [अ]ङ्हन् अपॅमॅम् [अ]ङ्हॅउश्।
अचिश्तो द्रॅग्वताँम्। अत् अषाउने वहिश्तॅम् मनो। [ज]न्द अवेस्त[ा य]स्न ३०.

And now the two Primal Spirits, who reveal themselve[s ...] as Twins, are the Better and Bad, in thought and word and action. And b[etween these] Two, the Wise ones chose Aright but not so the unwise.

—[...] सोनटक्के

कहाँ क्या ?

इस अंक में प्रस्तुत हैं ८ वेदमन्त्र-चिन्तन

वेद-संस्थान के उद्देश्य

वेद को विश्वधर्म बनाना, संस्कृत को विश्वभाषा बना[ना,]
विश्व में वैदिक संस्कृति की स्थापना करना।

अध्यक्ष : **अभयदेव शर्मा**, एम ए, पीएच डी

जनवरी, '८४ के वेदप्रवचन

वेद-संस्थान, अजमेर

रविवारीय 'वेदामृत' [प्रातः ८ से ९] में 'साधना'-[...] के पश्चात् १, १५, २९ जनवरी को **अभयदेव** के, ८ [...] **मदनसिंह चौहान** का, २२ को डॉ **बद्रीप्रसाद पंचोली** [...] वेदप्रवचन।

वेद-संस्थान, नई दिल्ली

नित्य संस्कृत-वेद-अध्यापन सायं ३ से ४ बजे स्वा[मी] **श्रेयोनन्द** द्वारा। १, १५, २२, २९ को **साप्ताहि[क] सत्संग** सायं ४ से ५। प्रति-मंगलवार ३, १०, १७, २[४,] ३१ को **महिला-सत्संग** सायं ४ बजे से। **मासिक सत्सं[ग]** में ८ को सायं ४ से ५ बजे में **अभयदेव** का वेदप्रवचन।

सम्पर्क-सूत्र

प्रधान-सम्पादक : **बद्रीप्रसाद पंचोली**, एम ए, पीएच डी
६४, जीवनविहार कॉलोनी, आनासागर सर्क्यूलर रोड
[अंगरेजी-खण्ड] म. **चैतन्यमुनि** [अजमेर ३०५ ००[१]
प्रेस-रजिस्ट्रार पंजीयन-सं. : आर एन ३८०५१/८
प्रकाशक : **वेद-संस्थान**, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड,
मुद्रक : **प्रिण्ट हाउस**, अजमेर [अजमेर ३०५ ००[१]

आजीवन : [केवल व्यक्तियों के लिए] १५० रु; विदे[श ...]
एक प्रति : १ रु; [में ३०० रु; हवाई डाक से रु ५०...]
वार्षिक : १२ रु; वी पी द्वारा रु १५.४०; विदेशों [...]
३० रु; हवाई डाक से रु [...]
ग्राहकी-अवधि : अगस्त— जुलाई

हिमाचल प्रदेश के महाविद्यालय-, ज़िला-, और स्कूल-पुस्तकालयों के लिए अनुमोदित (शिक्षा-निदेशा[लय] के पत्रांक : शिक्षा-एच (८)-६ (६) १/७७; दिनांक २४.१२.'८१ के अनुसार)

इच्छा से सुख का, सुख
गति का परस्पर घनिष्ठ
नाम ही सुख है । जब म
है तब उसे सुख का अनुभ
इच्छा पूरी नहीं होती
अनुभव करता है । अन्न
लगने पर, यथेच्छ स्वादि
जाता है तो वह सुख अ
दुःख । इच्छानुसार गति
सुख अनुभव करता है, अन्यथा दुःखी हो जाता है। **अन्न** शब्द का प्रयोग वेदों में प्रायः उपलक्षण से 'धनैश्वर्य' अर्थ में और कहीं कहीं 'सफलता' तथा 'फलप्राप्ति' अर्थ में हुआ है । मनुष्य सुख की इच्छा करता है । वह तदर्थ धनैश्वर्य की कामना करता है । सुख और धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिए वह नाना प्रकार की गति, प्रगति करता है । दूसरी ओर सुख धनैश्वर्य की गति, प्रगति– सब इच्छा के आश्रित है । प्रथम इच्छा, पीछे । प्राप्ति इच्छा और प्रगति के सहचार से सुख तथा अन्नैश्वर्य की प्राप्ति होती है । सुख, अन्नैश्वर्य तथा गति की प्रेरक शक्ति इच्छा ही है ।

बल से जीवन सजीव जीवन होता है और सजीव जीवन से पराक्रम (पुरुषार्थ) होता है। बलहीन जीवन निर्जीव जीवन होता है और निर्जीव जीवन नितान्त पराक्रमहीन अथ वा पुरुषार्थहीन जीवन होता है । बल से ही पराक्रम अथ वा पुरुषार्थ की सिद्धि होती है । पराक्रम अथ वा पुरुषार्थ ही जीवन है । बल और पुरुषार्थ से युक्त जीवन ही जीवित जीवन है । बल और पुरुषार्थ से विहीन जीवन मृत जीवन है ।

इच्छा और क्षमता, दोनों से युक्त पुरुष ही श्रेष्ठतम कर्म कर सकते हैं । इच्छाशक्ति और

मों का
श्रेष्ठ-
श्रेष्ठ-
ा होते
यदि
ा का
संबंध
ामी
बाह्य
इन्द्रियों का, अन्तःकरण और बाह्य करण का । आत्मा कर्ता है । शरीर करण है, कर्म के लिए कर्ता और करण, दोनों की अपेक्षा होती है । श्रेष्ठतम कर्म के लिए आत्मिक क्षमता [आत्मिक बल] तथा शारीरिक क्षमता [शारीरिक बल], दोनों ही की आवश्यकता है । आत्मिक क्षमता अथ वा आत्मिक बल की प्राप्ति सविता देव की उपासना से होती है, क्यों कि सविता देव ही आत्मदा बलदा है, आत्मिक बल का देनेवाला है । शारीरिक क्षमता की उपलब्धि शरीरसंबंधी सुनियमों के पालन से होती है, जिसका मूल अवलम्ब इच्छा, इच्छा शक्ति, आत्मिक बल है । सविता देव के प्रति समर्पित होकर, सविता देव की स्तुतिप्रार्थनोपासना से आत्मिक बल का सम्पादन और संवर्धन होता है ।

श्रेष्ठतम कर्म करने के लिए सवितृ-शक्ति [**प्रसवन**—संसर्जन—सुरचनाशक्ति तथा **संप्रेरणा**—संचालनशक्ति] की अनिवार्य आवश्यकता होती है । प्रेरणा प्रसवन की जननी है । प्रेरणा से ही प्रसवन होता है । प्रेरणा से ही संसर्जन होता है । प्रेरणा से ही सुरचना होती है । वास्तव में सवितृ-शक्ति नाम प्रेरणा का ही है । सविता का मूलार्थ तो प्रेरक ही है । श्रेष्ठतम कर्म के सम्पादनार्थ

कर्म का विज्ञान

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

4

इच्छा से सुख का, सुख से अन्न का और अन्न से गति का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। इच्छापूर्ति का नाम ही सुख है। जब मनुष्य की इच्छा पूरी होती है तब उसे सुख का अनुभव होता है। जब उसकी इच्छा पूरी नहीं होती तो वह अपने को दुःखी अनुभव करता है। अन्न की इच्छा होने पर, भूख लगने पर, यथेच्छ स्वादिष्ट अन्न [भोजन] मिल जाता है तो वह सुख अनुभव करता है, अन्यथा दुःख। इच्छानुसार गति, प्रगति करने पर मनुष्य सुख अनुभव करता है, अन्यथा दुःखी हो जाता है। **अन्न** शब्द का प्रयोग वेदों में प्रायः उपलक्षण से 'धनैश्वर्य' अर्थ में और कहीं कहीं 'सफलता' तथा 'फलप्राप्ति' अर्थ में हुआ है। मनुष्य सुख की इच्छा करता है। वह तदर्थ धनैश्वर्य की कामना करता है। सुख और धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिए वह नाना प्रकार की गति, प्रगति करता है। दूसरी ओर सुख धनैश्वर्य की गति, प्रगति–सब इच्छा के आश्रित है। प्रथम इच्छा, पीछे। प्राप्ति इच्छा और प्रगति के सहचार से सुख तथा अन्नैश्वर्य की प्राप्ति होती है। सुख, अन्नैश्वर्य तथा गति की प्रेरक शक्ति इच्छा ही है।

बल से जीवन सजीव जीवन होता है और सजीव जीवन से पराक्रम (पुरुषार्थ) होता है। बलहीन जीवन निर्जीव जीवन होता है और निर्जीव जीवन नितान्त पराक्रमहीन अथ वा पुरुषार्थहीन जीवन होता है। बल से ही पराक्रम अथ वा पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। पराक्रम अथ वा पुरुषार्थ ही जीवन है। बल और पुरुषार्थ से युक्त जीवन ही जीवित जीवन है। बल और पुरुषार्थ से विहीन जीवन मृत जीवन है।

इच्छा और क्षमता, दोनों से युक्त पुरुष ही श्रेष्ठतम कर्म कर सकते हैं। इच्छाशक्ति और क्षमता, दोनों के संयोग से ही श्रेष्ठतम कर्मों का सम्पादन किया जा सकता है। केवल इच्छा से श्रेष्ठतम कर्म नहीं किए जा सकते, यदि कर्ता में श्रेष्ठतम कर्म करने की क्षमता नहीं है। क्षमता होते हुए भी श्रेष्ठतम कर्म नहीं किये जा सकते, यदि श्रेष्ठतम कर्म करने की इच्छा नहीं है। इच्छा का संबंध केवल आत्मा से है और क्षमता का संबंध आत्मा और शरीर, दोनों से है। आत्मा सततगामी और शाश्वत सत्ता है। शरीर संघात है अन्तः बाह्य इन्द्रियों का, अन्तःकरण और बाह्य करण का। आत्मा कर्ता है। शरीर करण है, कर्म के लिए कर्ता और करण, दोनों की अपेक्षा होती है। श्रेष्ठतम कर्म के लिए आत्मिक क्षमता [आत्मिक बल] तथा शारीरिक क्षमता [शारीरिक बल], दोनों ही की आवश्यकता है। आत्मिक क्षमता अथ वा आत्मिक बल की प्राप्ति सविता देव की उपासना से होती है, क्यों कि सविता देव ही आत्मदा बलदा है, आत्मिक बल का देनेवाला है। शारीरिक क्षमता की उपलब्धि शरीरसंबंधी सुनियमों के पालन से होती है, जिसका मूल अवलम्ब इच्छा, इच्छा शक्ति, आत्मिक बल है। सविता देव के प्रति समर्पित होकर, सविता देव की स्तुतिप्रार्थनोपासना से आत्मिक बल का सम्पादन और संवर्धन होता है।

श्रेष्ठतम कर्म करने के लिए सवितृ-शक्ति [**प्रसवन**—संसर्जन—सुरचनाशक्ति तथा **संप्रेरणा**—संचालनशक्ति] की अनिवार्य आवश्यकता होती है। प्रेरणा प्रसवन की जननी है। प्रेरणा से ही प्रसवन होता है। प्रेरणा से ही संसर्जन होता है। प्रेरणा से ही सुरचना होती है। वास्तव में सवितृ-शक्ति नाम प्रेरणा का ही है। सविता का मूलाथ तो प्रेरक ही है। श्रेष्ठतम कर्म के सम्पादनार्थ

देवत्व की, दिव्यता की, प्रकाश की भी अनिवार्य आवश्यकता होती है। सवितृ-शक्ति यदि श्रेष्ठतम कर्म का शरीर है, तो देवत्व श्रेष्ठतम कर्म का आत्मा है। प्रेरणा और प्रकाश के समन्वय से ही श्रेष्ठतम कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। प्रेरणा के बिना प्रकाश व्यर्थ है और प्रकाश के बिना प्रेरणा निरर्थक है।

कर्म से छुटकारा तो कभी हो ही नहीं सकता। संसार का एक एक परमाणु अनवरत गति करता रहता है। सम्पूर्ण सृष्टि निरन्तर गति करती हुई नाना प्रकार का प्रसवन और संसर्जन करती रहती है। गतिशील विश्व में गतिविहीनता तथा निश्चेष्टता नितान्त असंभव है। कर्म से एक क्षण के लिए भी प्राणी अप्राणी का छुटकारा नहीं हो सकता। कर्ममोक्ष नाम की कोई स्थिति है ही नहीं। कर्म तो मोक्षावस्था में भी साथ लगा रहता है। देह से युक्त रहते हुए यदि दैहिक कर्म करने अनिवार्य हैं, तो जन्म-मरण से मुक्त होने पर मोक्षावस्था में मुक्त विचरण और मुक्त कर्म अनिवार्य है। स्वयं **आत्मा** शब्द का अर्थ ही सतत कर्म का बोध करा रहा है। **आत्मा** शब्द का अर्थ है सततगामी, निरन्तर गति करनेवाला। गति, गमन, चेष्टा और कर्म तो आत्मा का स्वभाव है। वह संदेह भी कर्म करता है और विदेह भी। बद्ध वा मोक्ष, किसी भी अवस्था में आत्मा निश्चेष्ट अथ वा कर्मरहित नहीं कर सकता। मानवदेह में भी आत्मा को कर्म तो करना ही होगा। हां मानव का यह अधिकार तो है कि वह कर्म का चुनाव कर सके। अन्य योनियों में कर्म के होते हुए भी कर्म के चुनाव का संस्कार नहीं है। मनुष्येतर समस्त योनियों के कर्म उनके योनिजन्य स्वभाव और संस्कार से बहुत सीमित और परहित हैं। मननशील होने के कारण मनुष्य कर्मों का चुनाव कर सकता है और कर्मों द्वारा अपनी, अपने परि[illegible] की, अपने समाज की, अपने राष्ट्र की और अपने संसार की उन्नति वा अवनति कर सकता है।

एक एक करके सब श्रेष्ठतम कर्म की इच्छा करें, एक एक करके सब श्रेष्ठतम कर्म के लिए क्षमता का सम्पादन करें और इच्छायुक्त तथा सक्षम होकर सब परस्पर श्रेष्ठतम कर्म का प्रवाह प्रवाहित करें। व्यष्टि व्यष्टि के परिष्कार से समष्टि का परिष्कार होता है। व्यक्ति व्यक्ति के सुधार से समाज का संशोधन होता है। व्यष्टि के परिष्कृत और समष्टि के संशुद्ध होने पर ही वह वातावरण सम्पन्न होता है जिसमें अनायास ही व्यष्टि और समष्टि में श्रेष्ठतम कर्म का सुप्रवाह सुप्रवाहित होता रहता है। व्यक्ति के परिष्कार और समाज के संशोधन से ही वह परिस्थितियां संसृष्ट होती हैं जिनमें व्यक्ति और समाज स्वभावतः ही उत्तम कर्मों का सम्पादन करते हैं। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मना सवित देव से श्रेष्ठतम कर्म करने के लिए इच्छाशक्ति और क्षमता प्राप्त करे और सब मनुष्यों को चाहिए कि वे श्रेष्ठतम कर्मों का चुनाव करें और सदा श्रेष्ठतम कर्म करें। एक एक करके सब सदिच्छा और क्षमता से युक्त हों और सब मिलकर परस्पर श्रेष्ठतम कर्म ही करें।

(शेष पृष्ठ १४० पर)

सूचना

कई ग्राहकों को 'वेद-सविता' का 'दयानन्द-स्वप्नांक' अक्तूबर,'८३-अङ्क) नहीं पहुंचने की सूचनाएँ मिली हैं। इसी आशंका से बचने के लिए 'वेद-सविता' में बार बार यह निवेदन किया गया था कि अङ्क की सुरक्षित पहुंच के लिए यदि चाहें तो अङ्क रजिस्ट्री से मंगा लें क्यों कि यह अङ्क पुनः नहीं भेजा जा सकेगा। प्राप्त शिकायती पत्रों का उत्तर देना भी व्यर्थ है। भविष्य के लिए ग्राहक सावधानी रखें, यह निवेदन है। **— मंत्री, वेद संस्थान**

'सु' का वि-ज्ञान*

अभयदेव, एम ए, पीएच डी

१) ज्ञान से मनुष्य ज्ञानी बनता है। विज्ञान से वह विज्ञानी, वैज्ञानिक हो जाता है। और सु-विज्ञान से वह **चिकितुष्** होता है। ज्ञान व्यक्त विश्व का। विज्ञान व्यक्त के परे की (व्यक्ताव्यक्त की) झलक। और सु-विज्ञान अव्यक्त का प्रत्यक्ष। अन्न-प्राण-मनोमय जगत् का परिचय ज्ञान है। विज्ञान-मय कोष का अन्वेषण विज्ञान है। आनन्दमय कोष का उन्मेष सु-विज्ञान (विज्ञान का विज्ञान) है। इस सुविज्ञान को पाकर मनुष्य **जन** हो जाता है क्यों कि अपने आनन्दस्वरूप का बोध और अनुभव उसे एक नवीन व्यक्तित्व, एक नवीन अभिव्यक्ति, एक निराला रूपान्तर, एक अभिनव जन्म—द्वितीय जन्म—द्विजत्व प्रदान कर देता है। अब वह अन्न-प्राण-मन की पाशों में बद्ध (पशु) नहीं रहता, विज्ञान-चक्षु से देखनेवाला [वैज्ञानिक] मात्र भी नहीं रह जाता वरन् साक्षात्कृतधर्मा ऋषि—द्रष्टा [पशु] हो चुका होता है।

सु-विज्ञानी जन **चिकितुष्** होता है। **केत** का अर्थ है ज्ञान। कैसा ज्ञान? इसे समझने के लिए 'केतु' शब्द को देखिए। 'केतु' का अर्थ है ध्वज। ध्वज है संकेत, इशारा, प्रतीक। जो संकेत को समझे, इशारे से तथ्य को पकड़ ले, प्रतीक से तत्त्व को ग्रहण कर ले वह चिकितुष् होता है। चिकितुष् तत्त्वज्ञ होता है, कलेवर में अन्तर्निहित आत्मतत्त्व को उसकी क्रान्तदृष्टि देख लेती है। ऐसा रहस्य-द्रष्टा फिर विकारों की चिकित्सा[1] करने में समर्थ होकर स्व, पर का कल्याण, इह लोक और पर लोक की सिद्धि, सब कुछ करने में समर्थ चिकित्सक[1] हो जाता है। चिकितुष् सु-विज्ञान से जगत् और जीवन के सार को हस्तामलकवत् देख लेता है।

२) क्या है यह सार, यह सु-विज्ञान? कि यह संसार तीन चीज़ों का पसारा है। वे तीन चीज़ें हैं सत्, अ-सत्, सोम। इन तीनों चीज़ों का आवपन, पात्र अथ वा आधार है जन—चिकितुष्—सु-विज्ञानी। जो सु-विज्ञानी नहीं है वह सत्-असत् के झूले में झूलता है। ठोकर लगने पर सत् से आकृष्ट होता है, तो भोगों का प्रलोभन, स्वार्थभीरुता उसे असत् की गोद में डाल देते हैं। पर चिकितुष् सत्, असत्, दोनों का स्वामी हो जाता है। वह इन पर अंकुश रखता है।

सत्=सत्ता, जीवन। अ-सत्=विनाश, मृत्यु। सत्ता—अस्तित्व का साधन **सत्य** कहाया, तो असत् का हेतु 'अनृत' कहाता है। सत्य देवत्व है, अनृत मनुष्यता का मामूली स्तर है। प्रतीक को समझने-वाला सृष्टि के कण कण में, घास की पत्ती से लेकर हिमालय जैसे विराट् रूप में, सर्वत्र सत् और असत् की प्रतिस्पर्धा को देख रहा होता है। जीवन का आरम्भ मृत्यु की ओर दौड़ का आरंभ भी है। मिलन में विछोह, सुख में दुःख, राग में विराग की आंखमिचौनी उसे भासती होती है। फलतः वह नीर-क्षीरविवेचनशील होकर रागरहित, पर द्वेषा-तीत भी, हो जाता है। आरोह के बाद अवरोह, बहिर्मुखता के बाद अन्तर्मुखता, भोग के बाद विरक्ति आनी है, यह वह जानता है।

ऐसे सुविज्ञानी में फिर सत् का पक्ष लेने और असत् का प्रतिरोध करने के सामर्थ्य का उदय होता है। इस सामर्थ्य को वेद **सोम** नाम देता है। सोम सत् का अवन—रक्षण करता है, तो असत् का घात। अवन करनेवाला **ओम्**[2] होता है। सोम कर्म, ज्ञान, भावना का 'आनन्द'-परिपाक है। जब तक मनुष्य के व्यक्तित्व में 'सोम'-स्तर का उद्भव नहीं होता तब तक उसका कर्म दिखावा है, लोक-लाज के तकाज़े से; ज्ञान किताबी है, दंभ बढ़ानेवाला। उसकी हार्दिकता, उसकी भावना मात्र आसक्तिमय स्वार्थ है, 'अहम्' की तुष्टि-रूप। पर सोमोदय होने पर कर्म, ज्ञान, भावना, सब अहं-कीट से, अहि-माया

---

* इस अंक के आवरण-पृष्ठ पर विद्यमान मन्त्र की व्याख्या।

१ इस शब्द में भी वही **कित्** धातु है जो **चिकितुष्, केतु, संकेत** में है।

२ सोम = स + ओम् (!)।

से, वृत्र की आसुरी सेना से नितान्त रहित होकर क्रमशः शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाते हैं। यह आनंदवृत्ति सुख-दुःख के थपेड़ों से न्यूनाधिक नहीं होती, निज-पर का पक्ष नहीं लेती, घृणा और आसक्ति, दोनों से अछूती रहती है। अपने इस आनन्द'मय'स्वरूप का धनी **जन** सत् का अवन करनेवाला 'ओम्', और असद्-रूप अहि का हनन करनेवाला (अहिं-सक) हो जाता है। यह वैदिकी हिंसा है जो वस्तुतः हिंसा है नहीं।[3]

सत् सत्य और ऋजीयः होता है। सत् में अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने की शक्ति ('सत्'-य) होती है। तभी तो कहा गया था कि **सत्यम् एव जयते, नानृतम्।** सत्य तो अपने आपमें जीत ही रहा है, जीता हुआ है ही। जो परिवर्तन और नाश के परे है वही तो सत् है, वही तो सत् का 'सत्'-य (सत् का सामर्थ्य) है। इस सत्य से ही देवों का यान—पथ पटा हुआ है।[4] इस देवयान को वितत करनेवाले सत् को यज्ञ, धर्म, आस्तिकता[5], सनातनता, शाश्वतता, चिरन्तनता, जैसे कितने ही नाम दिए गए हैं। यह सत् मारे मरता नहीं, मारने का यत्न वा घमंड करनेवाले कंस, रावण स्वयं ही मरकर सिधार जाते हैं। यही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है—मनुष्यता, मानवता, अर्थात् आत्मता। एक चोले से दूसरे चोले में सरक जानेवाला आत्मा (सततगतिशील), अथ वा जड़ देह की विनाशोन्मुखता में भी सतत वर्धनशील—सदा-फ़तह, सदा जीता हुआ यह सत् ही 'ब्रह्म'[6] है। तद्विपरीत जो असत् है वह तो परिवर्तनशीलता का मिथ्या आवरण है सत् के ऊपर पड़ा हुआ, यद्यपि इस असत् की भी अपनी उपयोगिता है सत् का साधन बनने में। अतः असत् माया (निर्मात्री शक्ति) है परिवर्तनशील 'जगत्' की।[7] सोम इस असत् के मिथ्या आकर्षण से—हिरण्मय पात्र से लुभाया नहीं जा सकता है। सोम तो है ही वह स्थिति जब विवेक स्थिर हो जाता है, प्रज्ञा स्थित हो जाती है।

सत् जगत् और जीवन का यथार्थ है। अतः सीधा, सरल, भोला-भाला शिशु है। उसमें न बनावट की बुनावट है, न छल-कपट की उसे अपेक्षा है। ये सब तो असत् की मजबूरियां हैं। सत्य सरल, स्पष्ट, तत्काल जीवनोपयोगी होता है।[8] असत्य जटिल, अप्रत्यक्ष, परिस्थितिविशेष में व्यक्ति-विशेष द्वारा कुछ ही काल के लिए साधन बन पाता है।

सत् और असत् मनुष्य की द्विविध अभिव्यक्ति **(वचः)** हैं। बुद्धि और मन के स्तर का सत् वा असत् जब वाणी से, व्यवहार से बिखर पड़ता है तो दुनिया उसे 'सच' वा 'झूठ' कहती है। यह तो वाणी का 'वैखरी'-रूप (वि-खर, बि-खरा हुआ रूप) है। इस बिखराव का मूल मन में, बुद्धि है। मन जब सत्-असत् में बंटा होता है तो मनुष्य का लौकिक व्यक्तित्व बिखर—टूक टूक हो जाता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि एक 'सत्' का होकर रहे, असत् की सेना में भरती न हो। इसी में मनुष्य का सु-विज्ञानत्व चिकितुष्ट्व और जनत्व (द्विजत्व) है।

३ वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। ४ सत्येन पन्था विततो देव-यानः।
५ धर्म (श्रुति-स्मृतिकथित) की अस्ति-ता को मानना। मनुस्मृति २.११
६ ब्रह्म 'सत्यं'। ७ जगत् मिथ्या। ८ ऑनेस्टी इज़ द बैस्ट पॉलिसी

आत्म-निर्भरता

कोमलभाई 'केश', एम ए,
भारती-भवन, कौड़िया [आज़मगढ़] २७६ १४१

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त, आ द्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं, सुविद्वांसो वितेनिरे ॥

यजुर्वेद १७.६८; अथर्ववेद ४-१४-४

स्व: यन्त: न अप-ईक्षन्ते आ द्याम् रोहन्ति रोदसी। यज्ञम् ये विश्वत:-धारम् सु-विद्वांस: वि-तेनिरे ॥

(ये सु-विद्वांस:) जिन सु-ज्ञानियों ने (विश्वत:-धारम् यज्ञम्) सर्वत: धारण करने योग्य यज्ञ को (वि-तेनिरे) विस्तृत किया है [वे किसी] (न अप-ईक्षन्ते) दूसरे की [सहायता की] चेष्टा नहीं करते। [वे] (स्व: यन्त:) स्वत: यत्न करते हुए, आत्म-निर्भर रहते हुए (रोदसी द्याम्) पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक को/पर (आ रोहन्ति) चढ़ जाते हैं।

लोग कहते हैं कि दुनिया को बदलता है ज़माना।
पर, मर्द वे हैं जो ज़माने को बदल देते हैं॥

किन्तु ज़माने को बदल देना उतना आसान नहीं है जितना कहना आसान है। इसके लिए स्वार्थ कुछ भी नहीं होता सब परार्थ होता है। ऐसा पुरुष जो कुछ भी करता है परार्थ ही करता है। अपने लिए तो संकीर्ण बुद्धि वाले लोग करते हैं किन्तु दूसरों के लिए अपने जीवन को अर्पण कर देना महत् बुद्धि वाले पौरुष से युक्त पुरुषों का काम है। जो लोग संयुक्त परिवार में रहते हुए अपने बच्चों तक ही सीमित रह जाते हैं वे लोग ऐसे पुरुष का मूल्याङ्कन नहीं कर पाते और न उनके अन्दर वैश्व भावना का लेशमात्र ही रह पाता है। यह बात उनकी समझ के बाहर है। जो थोड़े लोगों के बीच रह कर अपने निर्वाह के लिए परेशान है वह भीड़ को बर्दाश्त नहीं कर सकता। वास्तविकता तो यह है कि उस क्लीब को पौरुष की कसौटी पर कसना ही मूर्खता होगी। संकीर्ण बुद्धि वाले भीरु जन के लिए उक्त बात भले ही असंगत अथ वा असम्भव सी लगे किन्तु आज ऐसे ही लोगों की ज़रूरत है।

जिन्हें जगत् की नश्वरता का ज्ञान है, जिन्हें मृत्यु की तलवार हमेशा सिर पर लटकती हुई दिखाई पड़ती है, जिन्हें जीवन में यज्ञीय कर्म प्रिय है उन्हें विद्वान् कहा जाता है और जो ज्ञान को कर्म की कसौटी पर कसता हुआ योग-जीवनपद्धति से जीता है अर्थात् ज्ञान को अपना सहज कर्म मानता है वह सु-विद्वान् है। ये सु-विद्वान् देवों की पूजा करते हैं, उनके समान दिव्य बन कर संसार को दिव्य बनाने का प्रयास करते हैं और दिव्यता के लिए अपना सब कुछ त्याग देते हैं। दिव्यता के लिए उनका जीवन समर्पित होता है। इस प्रकार जगत् में यज्ञिय बन कर सबको यज्ञमय बना देने के लिए निरन्तर तैयार रहते हैं। इस कर्म में वे किसी दूसरे का मुंह नहीं देखते और न किसी की सहायता की अपेक्षा ही करते हैं। वे अकेले ही चल कर विघ्न-बाधाओं से लड़ते हुए जगत् का कल्याण किया करते हैं। वस्तुत: जीवन की अन्तर्मुखी वृत्तियां जब अपने तेज को बाहर की ओर फेंकती हैं तो सारा संसार उसकी चकाचौंध में अपनी लघुता का अनुभव करता है और तेजस्वी प्रभुता के चरणों में अपने को झुका देता है। तब सारा संसार उस सु-विद्वान् के प्रति अर्पित होता जाता है और मानवता के बाद देवत्व-प्राप्ति के लिए अपने अन्तर्गत दुरितों का परिष्कार करता है।

सु-विद्वान् की यह सबसे बड़ी विशेषता होती है कि वह आत्मनिर्भर होता है। वह आदेश नहीं देता बल्कि स्वत: करता है। उसके कर्मों से प्रभावित होकर उसके आसपास के लोग भी वही करते

हैं। इस प्रकार उसके द्वारा किया गया वह यज्ञीय कर्म विस्तृत होता जाता है, फैलता जाता है। जैसे पूल से निकल कर सुरभि वायु के माध्यम से पूरे वातावरण को आमोदपूर्ण कर देती है वैसे ही उस सु-विद्वान् की कीर्ति उससे निकलकर जन-जन के माध्यम से संसार में छा जाती है। इस प्रकार विश्वतोधार यज्ञ विस्तृत होता जाता है और संपूर्ण संसार यज्ञ-मय हो जाता है। यह उस सु-विद्वान् की आत्म-निर्भरता का प्रभाव होता है।

सु-विद्वान् की यह क्रिया मात्र पृथिवीस्थ जगत् को ही प्रभावित नहीं करती वरन् वह अन्तरिक्ष लोक तक भी पहुंचती है। पृथिवी के भौतिक रूप की स्थूलता सूक्ष्म बन कर अन्तरिक्ष की व्यापकता तक पहुंच जाती है। वह ज्यों-ज्यों स्थूलता को छोड़ता जाता है त्यों-त्यों सूक्ष्मत्व की ओर बढ़ता जाता है। सूक्ष्म की अन्तिम सरणि पर पहुंच कर द्यु लोक अर्थात् प्रकाश लोक में प्रवेश करता है। प्रकाश लोक कारण बन जाता है। स्थूल शरीर से किया गया कर्म सूक्ष्म शरीर को उन्नत करता है और सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर को प्रकाश से भर देता है। इस प्रकार उसका संस्कार वातावरण को संस्कृत करता जाता है और संसार उससे लाभान्वित होता है। शरीर छोड़ने के बाद भी उसकी यह क्रिया चलती रहती है। वह सूक्ष्म शरीर से जगत् को यज्ञीय बनाता ही है साथ ही कारण शरीर से भी वातावरण को संशुद्ध बनाता रहता है। वह अपने जीवन में सतत आरोहण करता जाता है और प्रकाश से भर जाता है। उसी को लोक राजा कहता है। वही सम्यक् रूप से राजित होकर सम्राट् बनता है। वह तीनों लोकों से ऊपर उठ कर जगत् को प्रकाश से भर देता है।

सकल विश्व-धारक सु-यज्ञ को,
जिन सु-ज्ञानियों ने विस्तारा।
कर न अपेक्षा और किसी की,
तोड़ विवश जीवन की कारा॥
पृथिवी अन्तरिक्ष औ' द्यौ पर,
चढ़ जाते हैं आनन्दित हो।
करते कर्म प्रकाश-विभा भर,
देते सुरभि स्वतः सुरभित हो॥

(शेष पृष्ठ १३६ का)

मानव-देह में जो बुद्धि, मेधा, मन, चित्त, आंख, नाक, कान, हस्त, पाद, आदि इन्द्रियां हैं वे सब **अघ्न्या** हैं, अहन्या हैं। उनका हनन नहीं करना चाहिए। शुभ श्रेष्ठ कर्मों से इन्द्रियां सुदृढ़, स्वस्थ और सुन्दर बनी रहती हैं। निकृष्ट कर्मों से इन्द्रियों का हनन होता है, इन्द्रियां क्षति और क्षीणता को प्राप्त होती हैं। ज्ञान और बल से, सदिच्छा और क्षमता से, विवेक और प्रकाश से, युक्त होकर शुभ श्रेष्ठ कर्म करने के लिए ही इन्द्रियां हैं, निकृष्ट कर्मों से हनन करने के लिए नहीं। जो ज्ञानी जन अपनी इन्द्रियों को सदा नीरोग, स्वस्थ और सबल रखते हैं वे ही इन्द्रियों द्वारा श्रेष्ठतम कर्म कर सकते हैं। जो ज्ञानी जन इन्द्रियों से श्रेष्ठतम कर्म करते हैं उन्हीं की इन्द्रियां सदा नीरोग, स्वस्थ, सबल और अहत—अक्षत रहती हैं। निकृष्ट कर्म करके इन्द्रियों को नष्ट नहीं करना चाहिए।

—**वेदव्याख्या-ग्रन्थ,** प्रथम पुष्प
[में यजुर्वेद १.१* की व्याख्या] से

* इषे त्वोर्जे त्वा····देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।

आदर्श कृषि कर !

बद्रीप्रसाद पंचोली, एम ए, पीएच डी

सीरा युञ्जन्ति कवयो, युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ।

ऋग्वेद १०.१०१.४; यजुर्वेद १२.६७; अथर्ववेद ३.१७

सीरा युञ्जन्ति कवय: युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा: देवेषु सुम्न- या ।

१ [जैसे कुशल किसान] (सीरा युञ्जन्ति) हल जोतते हैं [वैसे]

२ (कवय: पृथक् युगा वि तन्वते) क्रान्तदर्शी–विद्वान् पृथक् से युगों का विस्तार करते हैं ।

३ (धीरा: देवषु सुम्न-या) बुद्धि-प्रयोक्ता—समझदार देवों/दिव्यताओं में सुखपूर्वक [रहते हैं] ।

वेद का आदेश है—**कृषिम् इत् कृषस्व**, अर्थात्, कृषि कर्म ही करो । उसी कृषि-कर्म का 'सौम्य बुध'-ऋषि-दृष्ट इस मंत्र में व्याख्यान है । सोम आनन्द या श्री का नाम है । आत्मानन्द के साथ स्वयं को समर्पित भाव से जोड़ने वाला सोम-पुत्र बुध है । बुध का अर्थ है—समझदार या प्रबुद्ध । प्रबोध अवस्था को प्राप्त साधक देखता है कि कुशल कृषक किस तरह कठोर परिश्रम करके, बार बार हल चलाकर खेत को तैयार करता है, उसमें उपयुक्त समय पर बीज बोता है, पौधों के आस-पास के झाड़-झंखाड़ को साफ़ करता है, समय पर सिंचाई करता है, खड़ी फ़सल को जंगली जानवरों और चोरों से बचाता है, फ़सल पक जाने पर काटकर अन्न को भूसे से अलग करके उपयोग के लिए समाज को देता है । कृषक का सारा जीवन श्रम की, अनवरत अभ्यास की, अथक उत्साह की, आशा और विश्वास की मर्म-कथा है । उस कथा को समझ-बूझकर साधक न जाने, कितने रहस्यों की गांठें खोल लेता है ।

सद्गुणों और सद्विचारों की खेती करनेवाला साधक भी अच्छे कृषक का अनुकरण करे । निरन्तर अभ्यास करते हुए अपने मन को शुद्ध, संयत और पवित्र बनाए रक्खे जिससे उसमें अच्छे गुणों और विचारों के बीज बोये जा सकें । आशा, आस्था और विश्वास उन बीजों को संरक्षा और सुरक्षा प्रदान करेंगे । वे पल्लवित, पुष्पित और फलित होंगे तो सारा संसार जानेगा । किसी को उनकी शीतल छाया मिलेगी, किसी को गन्ध और किसी को सु-स्वादु फल । एक साधक अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करता है तो, न जाने, कितनों का, न जाने, कितनी तरह से, उपकार करता है । और साधक को यह सब करते हुए क्या मिलता है ? उसे मिलता है—किसान की तरह का सन्तोष, सुख, आनन्द । साथ में गर्व भी । उत्पादन का सुख, निर्माण का सुख कम नहीं होता ।

मंत्र में वेद का आदेश है—'विद्वानो ! हल चलाओ; जुए में बैल जोतकर कृषि कर्म का विस्तार करो । बुद्धि का प्रयोग करके दिव्य मनोभावना का निर्माण करो ।'

स्वामी दयानन्द मंत्र का अर्थ करते हैं—'क्रान्तदर्शियो ! अपने नाड़ीजाल को परमात्म-सत्ता के साथ जोड़ो, पृथक् रूप से योग-युक्त कर्मों का विस्तार करो और सुख व आनन्द का अनुभव करते हुए दिव्यानन्द को प्राप्त करो ।'

किसान के आनन्द और साधक के आनन्द में पर्याप्त समानता होती है । किसान शारीरिक श्रम करता है । साधक मानसिक श्रम करता है । एक की खेती सूक्ष्म है, दूसरे की स्थूल, बाह्य । साधक शारीरिक श्रम करते हुए साधना करे, कृषक शारीरिक श्रम करता हुआ, मन में सूक्ष्म संस्कारों को जगाता हुआ साधना करे, तो आदर्श कृषि का स्वरूप सामने आये । मन और शरीर के स्तर पर अलग अलग बंटकर श्रम किया जाय तो वह योग

(शेष पृष्ठ १४२ पर)

आनन्द-मय जीवन—सर्वार्थ

शीलस्वरूप शर्मा, बी ए
द्वारा—आदित्यबन्धु शर्मा, सैण्ट्रल बैंक ऑफ़ इण्डिया, मेन रोड, रांची

इन्द्रश्च मृडयाति नो, न नः पश्चाद् अघं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरः ।

ऋग्वेद २.४१.११

१ (इन्द्रः च नः मृडयाति) इन्द्र तो हमें आनन्द देता है ।
२ (अघं नः पश्चात् न नशत्) पाप हमारे पीछे न पड़े ।
३ (नः पुरः भद्रम् भवाति) हमारे सम्मुख भद्रता हो ।

मंत्र में **नः** का प्रयोग मानवजाति के सामूहिक रूप को इंगित करता है । आत्मा, जीव, भूत, सबकी सत्+ता, भू+त्व का कारण है । प्रत्येक **स्व** शरीरधारी वा देही है । शरीर-संस्था की प्रथम इकाई व्यक्ति है । दूसरी इकाई परिवार, तीसरी समाज, और चौथी राष्ट्र है । इस प्रकार वह **वसुधैव कुटुम्बकं** तक एक एक होकर अनेक—बहु की लड़ी में पिरोया हुआ है । **अहं वयम्** हो गया है । अहं (प्रत्येक व्यक्ति) जहां शरीर-संस्था की गिनती, संख्या को बढ़ा रहा है वहां उसके गुण, कर्म, स्वभाव को भी वि+चित्रित करके बढ़ा रहा, व्यक्त कर रहा है और आंग्ल-भाषा की इस उक्ति को मूर्त कर रहा है कि Child is the father of man । यही नहीं, **वयं** बना हुआ **अहं** ही तो भूर्+भुवः+स्वः (सत्+चित्+आनन्दस्वरूप) की प्र+कृति (सृष्टि) को [जो 'जगत् यह सारा है सुखधाम, सिखाया किसने दुःख का नाम ?' क्यों कि 'अमृत पुत्र (आत्मा), पिता (परमात्मा) भी अमृत, अमृत सब संसार'–स्वामी 'विदेह'] शिव और सुन्दर, भद्रता और आनन्द का धाम बनाए रखने के सहज उत्तरदायित्व का वहनकर्ता है, होना चाहिए । वही इसे अभद्रता, अशिवता से अनेक प्रकार से विकृत करके दुःखमय बनाने के लिए भी उत्तरदायी है । यदि व्यक्ति-संस्था, व्यक्ति-प्राणी भद्रताओं से समलंकृत है तो परिवार-व्यक्ति, समाज-व्यक्ति और राष्ट्र-व्यक्ति यथास्थान **वसुधैव कुटुम्बकं** को भी सुखमय और आनन्द-धाम रखने में सहयोगी रह सकता है । तब मानव-समूहों में चाहे वे ब्रह्माण्ड (वसुंधरा) के किसी भी भू-भाग में निवास करते हों, ऊंच, नीच, धनी, निर्धन, पापी, दुःखी, पतित, पिछड़ा बनने ही नहीं देंगे । ये स्थितियां तो तभी जन्मती और बढ़ती हैं जब जाने या अनजाने में, भोलेपन में, प्रमाद, उदासीनता या देखी-अनदेखी करके व्यक्ति और उसकी संस्थाओं में पाप पीछे पड़ जाता है और शनैः शनैः यह पाप-विष (Slow Poison) मन, बुद्धि और शरीर के संघ में सेंध लगाकर घुसपैठ करता चला जाता है । अतः वेद-मां ने सचेत किया, निर्देश दिया कि मानवो ! यदि सुख चाहते हो तो सदा सावधान रहो और यह जपते और करते रहो कि **न नः पश्चाद् अघं नशत्** = पाप हमारे पीछे न पड़े । पाप और पापी की सत्ता ही न हो । पाप का आरंभ, अस्तित्व ही न हो । पाप के कीटाणु धरती (मन, बुद्धि) में न तो बोए जाएं और न अंकुरित हों । सामूहिक हित-भावना, अर्थात्, हमारे जीवन से जन जन के जीवन में, प्राण प्राण में, सबके में लहलहानेवाली शस्यराशि की तरह अच्छे गुणों और विचारों की फ़सल को भी लहलहाते हुए देखता है ।

कविगण ! हल जोतो । विस्तारो युग कर्म ।
धीर दिव्य हो सुख से [जीते]

(शेष पृष्ठ १४१ का)

कहां हुआ ? योग तब कहलायेगा जब शरीर और अन्तःकरण के व्यापार में समन्वय हो, जो काम करे उसके साथ पूर्ण मनोयोग हो । यह खेती का आदर्श रूप है । इसको अपनानेवाला किसान खेतों

कल्याण की, हित की भावना, सामूहिक कर्त्तव्य और दायित्वबोध को प्रबुद्ध करे।

शरीर का तो एक ही गुण है कि वह अन्त में राख हो जाता है, **भस्मान्तं शरीरम्**। देह (शरीर) देही (आत्मा), जो 'वायुरनिलं अमृतं' है, को मात्र सुख-दुःख का अनुभव कराता है। आत्मा ही है जो **तिष्ठत् तस्मिन् अपो मातरिश्वा दधाति,** सर्वव्यापी प्रभु में स्थित होकर कर्मों और कर्म-फलों को धारण करता है। सुख, दुःख स्थायी नहीं होते। कभी सुख, तो कभी दुःख। कभी कभी जो दुःख का कारण है वह सुखद हो जाता है और जो सुख का कारण है वा लगता है वह दुःखद हो जाता है। **आनन्द** ही है जो दिव्य आत्मा को प्राप्त होता है और स्थायी रहता है, स्थायी है। सुख और आनन्द दोनों ही काम्य हैं। दुःख काम्य नहीं है। सुख सु वा सुकर्म का फल या परिणाम है। इन्द्रियों और मन का जब सु-स्वभाव हो जाता है तो सुकर्म होते हैं– गुणात्मक सुकर्म। और, जब इन्द्रियां और मन मौन हो जाते हैं तब **स्व** का पर (परम सत्ता = ईश्वर) से ध्यान-समाधि द्वारा सम-योग एवं सं+योग होता है। तब मात्र दिव्य कर्म होते हैं। दिव्य कर्मों से दिव्य हुआ आत्मा परमात्मा में समाहित होकर आनन्द में स्थित करता है। सुख और दुःख परिणामी और परिवर्तन-धर्मा हैं। दुरित दुःख-प्रदाता हैं। दुरितों से, पापों से क्रमशः परा-सवन सापेक्षतया सुखप्रद होता है, होता चला जाता है। दूसरे शब्दों में दुरित वा अघ जब जितने पीछे पड़े रहते हैं उतने ही जन्म लेते हैं और दुःखों का रूप, प्रभाव, बल बढ़ता जाता है। उन्हें भोगने के लिए मानवशरीर, जो कर्मयोनि है वह, भी चुक जाता है, पीछे रह जाता है, त्यक्त हो जाता है और आगे आगे तो विभिन्न भोग-योनियों में टक्कर मारनी और खानी पड़ती है। ये भोगयोनियां तीन करोड़ तक गिनती में आ चुकी हैं। **ब्रह्माण्ड में,** मानवों के कुल भार से कीटों का वज़न बारह गुना अधिक होगा। इससे सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि मानवयोनि से पतित होना कितना भयावह है। यह तो केवल कीटयोनियों की ही बात रही, अन्य योनियाँ अलग। इनमें जन्मते मरते, भोग भोगते हुए संभव है कि सृष्टि की चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की आयु में से मानवसृष्टि की ९९४ चतुर्युगियों (अथ वा चौदह मन्वंतरों) की आयु में मानवयोनि कम बार, और मानवेतर योनियां अनेकानेक बार, अतः अधिक समय तक, भोगनी पड़ेंगी। स्पष्ट है कि यदि एक बार पाप वा अधम, अमानवीय कर्म करने को दुर्-वृत्ति पीछे पड़ी और, सश्रम संयम, नियम और नियामक नियमों का अनुपालन कर, उसे त्याग न पाए तो वह शीघ्र ही कर्मयोनि, मानवशरीर को पीछे ही पीछे छोड़ती और अधम (भोग-) योनियों को आगे आगे बढ़ती बढ़ाती चली जाएगी। तब इन्द्र (आत्मा) की सर्वथा मौत सी ही हो जाएगी। अधम से अधमतर योनियों में अग्रसर रहता हुआ, कर्मयोनि से बिछुड़कर, मानवयोनियों को पीछे छोड़कर, त्यागकर उसे पुनः कब प्राप्त कर पाएगा, इसकी कल्पना वा अनुमान लगाना संभव नहीं। मानवयोनि के बिना, आत्मा फिर परम+आत्मा में समाहित, लीन होने की दिशा और दशा में न आने के कारण **इन्द्रश्च मृडयाति नः** के अनुभव की दिशा और दशा में अग्रसर होने का सुयोग प्राप्त करेगा ही कैसे? अतः मानवशरीर प्राप्त होने पर सदा जागरूकता के साथ **न नः पश्चाद् अघं नशत्** के लिए सतत संतत उपक्रम करना अ+निवार्य है। अतः वेद-माँ ने सावधान किया कि मानवशरीर मिलने पर यह याद रखो कि इस शरीर में ही आत्मा को जौहर और जुहार करने का सुअवसर, सुयोग प्राप्त होता है। अतः इस धारणा, विश्वास एवं संकल्प के साथ कि इस शुभारंभ को आगे ही आगे उत् से उत्-तर और फिर उत्-तम के लक्ष्य की ओर अबाध गति से, एक के बाद एक मानवयोनि की अवधि को बढ़ाते हुए **इन्द्रश्च मृडयाति नः,** इन्द्र तो निश्चितरूपेण, असंदिग्धतया हमें आनन्द ही देता है, कि आत्मा को ज्योतिर्मय से ज्योतिर्मयतर और फिर ज्योतिर्मयतम की स्थिति में लाकर **भद्रं भवाति नः पुरः,** हमारी भद्रताएं ही, गुणवत्ता, दिव्यकर्म-संलग्नता ही हमें वह लक्ष्य प्राप्त कराएंगी, **पुरः** (आगे ही आगे) प्रसरित होते जाओ, बढ़ते जाओ एवं बढ़ाते

जाओ। एकान्त स्वार्थी न बनकर सर्व+स्व+अर्थी बनो, प्रभु की दिव्य सृष्टि को दिव्य कृति बनाए रखने के लिए अकेले दुकेले नहीं रहो वरन् (नुः) मानवसमुदाय में से सर्व वा बहुतों को साथ लेकर, साथियों की संख्या को बढ़ाओ। सख्य, सखित्व, सहधर्मिता को पुरस्सर तथा अग्रसर करके उसकी अमर गोद में, चिदानंदमयी स्थिति में स्थित रहने के लिए परम सत्ता ईश्वर से पात्रता के साथ प्रार्थना करो कि **भद्रं भवाति नः पुरः**, प्रभो! मन को शिवसंकल्पमय, बुद्धि को निर्मल, निष्पाप, तथा शरीर को नीरोग (कु से दूर), स्व+स्थ बनाए रखने के लिए हमारे प्रयास, हमारी वृत्तियां, हमारी धारणाएं निरतंर आगे ही आगे, ऊपर और ऊपर, दीपक की लौ के समान ऊर्ध्व-गामी रहें और अपने आलोक को अपने चारों ओर, ऊपर और नीचे, सर्वत्र सर्वथा विस्तृत करें, करती रहें। तभी प्रभु, जो हमारा निरंतर कल्याण ही कर रहे हैं, से हम यह कृतज्ञता का प्रकाशन और विश्वासमय विनय कर सकते हैं कि

तुंजे-तुंजे य उत्तरे, स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्। ऋ १.७.७

और,

विश्वानि देव! सवितर् दुर्-इतानि परा सुव। यद् भद्रं तन् न आ सुव। जिससे कि हम **ज्योक् ते सं-दृशि जीव्यासम्। ज्योक् ते सं-दृशि जीव्यासम्।** य ३६.१९

हम तेरी आँख के सामने जिएं, तुझे चिर काल तक आत्म-चक्षु से आनन्द-प्राप्ति के लिए तथा तेरी दो बाह्य चक्षुओं से तेरी दिव्य सृष्टि की प्रत्येक गति, विधि, रंग, रूप, दशा और दिशा में सुखप्राप्ति के लिए और उस सुखप्राप्ति से आनन्दप्राप्ति का सदा संवरण करते रहने के लिए जिएं, प्राणवान् रहें, गतिशील और मानवधर्म के समवहन में नियुक्त रहें।

सर्वथा पूत और शक्तिसंपन्न शरीर (आत्मा, मन, बुद्धि) स्वस्थ रह कर सुख प्राप्त करता है और ईश्वर के प्रसाद, मार्गदर्शन और शुद्ध धारणा से आनंदित भी होता है। आओ, उसके नियामक नियमों में स्व (आत्मा) के तंत्र (शासन) में सम्य-क्तया जीवन को दिव्य साँचे में ढालें, वरेण्य भर्ग को धारण करने के लिए मन, वचन और कर्म से दिव्य बनें, स्वतंत्र बनें और वेद-माँ की इस सूक्ति को सदा ध्यान में रखें कि **इन्द्रश च मृडयाति नः**, दयालु प्रभु बिना याचना किए ही सदा हमारे कल्याण को ही **जगत्यां जगत्** में बिखेरे, समाये हुए हैं। हम आत्मना प्रभु के भर्ग में, प्रकाश में, सौन्दर्य में अपने आप(आत्मा)को समाहित कर देने में चूक न करें। चूकने पर हम स्वयं ही सुखों को दुःखों में, और आनन्द को क्लेश में कर लेते हैं, ठीक वैसे ही जैसे अंगूर, गन्ना, जौ, आदि अन्नों और फलों को सड़ाकर, इन स्वास्थ्यकर सुखद पदार्थों की शराब बनाकर शरीर-रूपी बोतलों में भरकर होश खो बैठते हैं एवं अनेक भोग, रोग, अघ तथा दुरितों के आगार बन जाते हैं। इतना भी तो नहीं करते कि किसी प्रकार कोई पापकर्म, अपकर्म हो जाए तो आगे के लिए व्रत करें, प्रतिज्ञा करें, सदा सावधान रहें कि अब पाप को अपना पीछा नहीं करने देंगे और न दुःख और दुरितों को अपने ऊपर हावी होने देंगे। तो फिर, जैसा बोओगे वैसा काटोगे। **भद्रं भवाति नः पुरः** की कितनी ही रट लगाओ, व्यर्थ और अपने आप-(आत्मा)को धोखा देना ही सिद्ध होगा। यही नहीं, इन्द्र देव की सुख और कल्याण की वर्षा में रहते हुए भी हम दुःखों से दबे और त्रस्त रहेंगे। निरं-तर कष्ट-और-क्लेशमय योनियों में सड़ते, गलते रहेंगे। आत्मा की खेती करो—फूलों की खेती की तरह; सु-वास (सुख) और आनन्द मिलेगा। भोगों की खेती करो—दुःख, तम, अंधकार, अज्ञान एवं निकृष्ट योनियाँ मिलेंगी।

सावधान, **भद्रं भवाति नः पुरः** से पूर्व **इन्द्रश च मृडयाति नः** के विश्वास को परम आधार जानते और मानते हुए सदा हृदय, चित्त और मन से रटें **न नः पश्चाद् अघं नशत्** और आतमना सबके कल्याण को, उन्नति को अपना कल्याण, अपनी उन्नति जान-मानकर बढ़ें बढ़ाने के लिए, जिएं सबको प्राणवान्, प्रकाशमान् भग+वान् बनाने के लिए।

सुख में सीमित होकर बढ़ें आनन्दी रहने के लिए,
इन्द्र की आनन्द-मयी गोद में वि+राजने के लिए॥

यज्ञ से हमें क्या लाभ है ?

रामचन्द्र आशोपुरी, सीतामढ़ी

यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये । यो नमसा स्वध्वरः ।।
तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस तस्य द्युम्नितमं यशः ।
न तमंहो देवकृतं कुतश्च चन न मर्त्यकृतं नशत् ।। ऋग्वेद ८.१९.४-६

(सु-अव ध्वरः) भली-भांति यज्ञ करनेवाला (यः मर्तः) जो व्यक्ति (समिधा) समिधा के माध्यम से (यः आहुतीः) जो आहुति से (यः वेदेन) जो वेद द्वारा (यः नमसा) जो श्रद्धा के साथ (अग्नये ददाश) प्रकाशमय प्रभु के लिए अपने आपको समर्पण कर देता है (तस्य इत्) ऐसे व्यक्ति के ही (आशवः अर्वन्तः रहयन्त) घोड़े तीव्र गति से दौड़ते हैं (तस्य यशः द्युम्नितमम्) दूर दूर तक उसका यश फैलता है (तं) उसे (कुतश्चन) कभी भी देवों तथा मनुष्यों का किया (अंहः) पाप (न नशत्) ग्रसित नहीं कर सकता ।

इन मंत्रों के अन्दर अग्निहोत्र की महत्ता का उल्लेख किया गया है । जो व्यक्ति प्रतिदिन नियमपूर्वक यज्ञ करता है उसके घर में तीव्र गति से चलनेवाले घोड़े प्राप्त होते हैं । दूर दूर तक उनकी कीर्ति फैलती है क्यों कि अग्नि देव, वायु देव और जल देव के शुद्ध हो जाने के कारण, किसी प्रकार की हानि उसको नहीं हो सकती । यहां तक कि मानव भी उसका बाल बांका नहीं कर सकता।

कभी-कभी विचित्र प्रश्न उठता है । कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो खुले शब्दों में कहते हैं कि हमें यज्ञ से कोई लाभ नहीं मिला । हम इसकी परीक्षा करके देख चुके हैं । किन्तु इस प्रश्न का सीधा उत्तर मैं यही देता हूं कि वे यज्ञ तो करते हैं पर अन्तः-करण, निष्ठा और विधिवत् यज्ञ नहीं करते । वे मात्र शीघ्र ही फल पाने की कामना करते हैं । फल-प्राप्ति के अतिरिक्त उनकी दूसरी कोई भावना नहीं है । वे निष्काम भाव से यज्ञ नहीं करते । मानव कर्म करने में स्वतंत्र है और फल पाने में परतंत्र है ।

अगर शुद्ध संकल्प और उत्तम रीति से हम यज्ञ करें, यज्ञ की महिमा को समझें तो सफलता निश्चय ही मिलेगी । हम ध्यान रखें कि जिस प्रकार समिधा एवं सामग्री अग्नि में आहुत होती है, ठीक उसी प्रकार तन, मन और धन से हम भी आत्माग्नि की आहुति दें, अपने को प्रभु की शरण में प्रेमपूर्वक समर्पित कर दें तो इस धरातल पर हमें किसी वस्तु का अभाव नहीं हो सकता ।

अकृतज्ञता

जगदीशचन्द्र शर्मा 'शैलेन्द्र'
उपज़िलाधीश, रतलाम

मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं, देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान् ।
पाकाय गृत्सो अमृतो विचेता, वैश्वानरो नृतमो यह्वो अग्निः । ऋग्वेद ४.५.२

मा निन्दत यः इमाम् मह्यम् रातिम् देवः ददौ मर्त्याय स्वधावान् ।
पाकाय गृत्सः अ+मृतः वि-चेताः वैश्वानरः नृ-तमः यह्वः अग्निः ।

(१) (स्वधावान् यः) अन्न से भरपूर जिस (गृत्सः अ+मृतः वि-चेताः) मेधावी, अ-मर, विशेष बुद्धिमान्, (नृ-तमः यह्वः वैश्वानरः अग्निः देवः) श्रेष्ठ नेता, महान् वैश्वानर अग्नि देव ने (पाकाय मर्त्याय मह्यं) परिपक्व और मरणशील मुझको (इमां रातिं ददौ) इस धन को दान में दिया था [है] [उसकी]

(२) (मा निन्दत) निन्दा मत करो ।

इस मंत्र में अकृतज्ञ (कृतघ्न) न बनने की, दाता की निन्दा न करने की सुन्दर सीख दी गई है—

निंदा नहीं करो उसकी
जिसने यह सम्यक् दान दिया है,
जिसने इस नश्वर अबोध को
(बल विक्रम और ज्ञान दिया है)
मेधावी बल विक्रम वाला,
मरणातीत, सचेतक, दाता,
जग का नायक, दिव्य सुनेता,
ने ही, ताप-प्रकाश प्रदाता ।

उपकार को भुला देना तथा अकारण ही निंदा करना सामान्य मानव का स्वभाव है । अतः अकृतज्ञता पर बिल्कुल मत बड़बड़ाइये । यदि आप कृतज्ञता की आशा नहीं करेंगे तो कदापि दुःखी नहीं होंगे । जो कृतज्ञता को अधिकार की वस्तु समझते हैं उन्हें वह कभी भी प्राप्त नहीं होती । कृतज्ञता तथा स्नेह सिर्फ़ उन्हें प्राप्त होते हैं जो उनकी इच्छा नहीं रखते ।

आपने पंचतंत्र की यह कथा सुनी ही होगी । समुद्र के किनारे एक जामुन का पेड़ था जिस पर बड़े स्वादिष्ठ फल लगते थे । उसी पेड़ पर एक बंदर रहता था । ख़ूब जामुन खाता था । एक दिन एक मगरमच्छ पानी से निकलकर, किनारे पर आ गया । बंदर ने देखा तो अतिथि मानकर कुछ फल खाने के लिए उसे दे दिये । वह ख़ुश हो गया । रोज़ आने लगा । दोनों में गहरी दोस्ती हो गयी । मगरमच्छ मीठे मीठे जामुन अपनी पत्नी के लिए भी ले जाने लगा । एक दिन उसकी पत्नी ने कहा कि अब तो बंदर को भी यहीं ले आओ । वह रोज़ाना मीठे-मीठे जामुन खाता है, अतः उसका हृदय भी बड़ा मीठा होगा । मैं उसके हृदय का स्वाद चखूंगी । मगर ने बहुत मना किया, किन्तु वह नहीं मानी । इसके बाद, किस प्रकार मगर बंदर को बुलाकर अपने घर ले गया व किस प्रकार बंदर अपनी प्रत्युत्पन्नमति के कारण मौत के मुंह से बच निकला, इससे मुझे कोई सरोकार नहीं है । मैं केवल यही बतलाना चाहता हूं कि जिस मित्र ने मीठे जामुन दिये उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना तो दूर रहा, उल्टे उसकी जान लेने का उपक्रम किया गया । ऐसी है दुनिया ।

कृतज्ञता का गुण बड़े अभ्यास से विकसित होता है । आपको साधारण व्यक्तियों में यह गुण नहीं मिलेगा । आपने यदि किसी पर कोई एहसान किया है तो स्वाभाविक रूप से आप अपेक्षा करेंगे कि वह आपका एहसानमन्द रहे । किन्तु यह लाज़िमी तो नहीं कि वह आपका एहसान माने ही । यदि नेकी करने पर भी कोई आपका एहसान नहीं माने तो क्रोध मत कीजिये, क्यों कि कन्फ्यूशियस

ने कहा है कि क्रुद्ध व्यक्ति सदैव विष से भरा रहता है, वह हमेशा एक घुटन सी महसूस करता रहता है तथा खिन्न रहता है। आत्मग्लानि से खिन्न होने के बजाय कृतघ्ता का कारण खोजिये। हो सकता है लोग आपके कठोर स्वभाव के कारण ही आपके सामने आने से कतराते हों या आपने जो उन्हें दिया है उसे वे उपहार न मानकर अधिकार मानते हों। इसी से आपको धन्यवाद देना आवश्यक नहीं समझते हों। यह भी संभव है कि वे कमीने, स्वार्थी अथ वा असभ्य हों। जॉनसन ने कहा है कि कृतज्ञता की भावना कठोर परिश्रम से विकसित होती है, आप इसे साधारण व्यक्तियों में नहीं पा सकते। अतः अकृतज्ञता से उत्पन्न चिंता के निवारण के लिए हमें कृतज्ञता की आशा न करके, केवल मन की प्रसन्नता के लिए ही, दूसरों की भलाई करनी चाहिए।

शेक्सपीयर ने कहा है कि अकृतज्ञता सर्पदंश से भी अधिक पीड़ा देनेवाली होती है। वास्तव में सर्पदंश से तो एक बार ही पीड़ा होती है, किन्तु, कृतघ्नता का दंश तो आजीवन दुःख देता रहता है। नाग के दांत, बिच्छू की पूंछ और मक्खी के तो मुख में ही विष होता है, किन्तु अकृतज्ञ व्यक्ति के सर्वांग में ही विष होता है।

आपने यह आख्यायिका भी सुनी ही होगी। एक संन्यासी ने एक चूहे को शेर बना दिया। यह एक असाधारण कार्य था। लेकिन क्या उसने इसके लिए संन्यासी का एहसान माना? कदापि नहीं। इसके विपरीत वह उसी के ख़ून का प्यासा हो गया। कृतघ्नता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा?

अरस्तू ने कहा है—आदर्श व्यक्ति वही है जिसको दूसरों का उपकार करने में आनंद मिले तथा जो दूसरों का एहसान लेने में शर्मिन्दगी महसूस करे। दूसरों पर एहसान करना श्रेष्ठता का प्रतीक है, किन्तु दूसरों का एहसान लेना हीनता का प्रतीक है। अतः अकृतज्ञता की चिन्ता छोड़कर, बिना किसी प्रतिदान की आशा किये, दूसरों का उपकार कीजिये, इसी से आप आनन्द का अनुभव करेंगे।

फूल हमें सुगंध देते हैं, लेकिन हम उन्हें तोड़ लेते हैं, उनकी मालाएँ बनाते हैं। किसको कितनी पीड़ा होती है, सामान्यत हमें इसका एहसास भी नहीं होता। सिर्फ़ स्वार्थ-सिद्धि ही सामान्य मानव का लक्ष्य होता है—

कितने गुलों का ख़ून हुआ इससे क्या गरज़,
उनके गले का हार तो तैयार हो गया!

मधुमक्खियां हमें शहद देती हैं, वृक्ष फल देते हैं, पादप महकते फूल देते हैं, लेकिन क्या वे धन्यवाद चाहते हैं? आप भी परोपकार कीजिये और धन्यवाद की चिन्ता छोड़ दीजिये। तब आप देखेंगे कि लोग स्वयं आपकी प्रशंसा करेंगे, आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करेंगे।

शास्त्र कहते हैं कि दान ही सत्पुरुष का भूषण है। हमें दान द्वारा सुखप्राप्ति की प्रवृत्ति अपनानी चाहिये। कृतज्ञता की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। बलि, कर्ण और विक्रम की कीर्ति दान के कारण ही है। यदि सुखी रहना है तो कृतज्ञता अथ वा अकृतज्ञता की परवाह किये बिना ही, आत्मानन्द के लिए, उपकार कीजिये।

ईसा ने एक दिन में दस कोढ़ियों को ठीक किया। किन्तु उनमें से केवल एक ने ही उनका उपकार माना। शेष लोगों ने उन्हें धन्यवाद तक नहीं दिया। ईसा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने शिष्यों से पूछा—अन्य नौ व्यक्ति कहां गये? उत्तर मिला—खिसक गये। आपके आस पास जो लोग रहते हैं उनका स्वभाव भी क्या ऐसा ही नहीं है? आपको भी उनके विचित्र व्यवहार पर आश्चर्य होता होगा। कबीर ने कहा है—कौवा हंस नहीं हो सकता। अतः चिन्ता से लाभ ही क्या!

मेरे एक वकील मित्र ने मुझे बतलाया कि उन्होंने कई व्यक्तियों की जान बचायी, किन्तु उनमें से एक ने भी उन्हें धन्यवाद नहीं दिया। यहां तक कि मुक़दमों की कार्यवाही ख़त्म हो जाने के बाद, कभी नमस्कार तक नहीं किया।

मेरे एक अन्य मित्र का बारह वर्ष पूर्व का एक कटु अनुभव सुनिये। (वे भी एक राजस्व-अधिकारी हैं, तथा म. प्र. शासन के अंतर्गत ही सेवारत हैं।) वे

अपने पेशकार पर बहुत विश्वास करते थे। एक बार वे दस हज़ार रुपए वसूल करके लाए और पेशकार को देते हुए, उक्त राशि को ख़ज़ाने में जमा कराने का निर्देश देकर पुनः दौरे पर चले गये। दौरे से लौटे तो पेशकार ने बताया कि राशि जमा कर दी गई है तथा कैशबुक भी भर दी गई है। उन्होंने बिना सत्यापन किये ही कैशबुक पर हस्ताक्षर भी कर दिये। तीन महीने बाद, जब कार्यालय का लेखा-परीक्षण (आडिट) हुआ तो पता लगा कि लगभग पाँच हज़ार कम जमा किये गये थे, तथा कैशबुक का मिलान भी ग़लत था। मेरे मित्र ने पेशकार से इस सम्बन्ध में पूछा तो वह भड़क उठा और उल्टे उनको ही दोषी ठहराने लगा। बात बढ़ने लगी तो उन्होंने राशि अपने पास से जमा करा दी, पेशकार के विरुद्ध विभागीय कार्यवाही तक प्रस्तावित नहीं की। किन्तु क्या उसने इसके लिए उनका एहसान माना? जी नहीं, इसके बजाय वह उनका प्रबल विरोधी बन गया। बाद में तो उस राशि की हेराफेरी को खुले आम स्वीकार करते हुए, वह सार्वजनिक रूप से उनका उपहास भी करने लगा।

यह है सामान्य मानव-स्वभाव। और इसे आप बदल सकते हैं क्या? कोई कितनी भी बड़ी ग़लती कर रहा हो, अगर आप उसे समझाने की कोशिश करेंगे तो वह बिल्कुल नहीं मानेगा, और न अपनी ग़लती को स्वीकार ही करेगा, यही नहीं, वह आपके पीछे भी पड़ जाएगा।

आप किसी को उधार देकर देखिये। आप उससे कृतज्ञता की आशा करेंगे, किन्तु आपको ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो इसके लिए आपके एहसानमन्द रहेंगे। अधिकांशतः वे आपके विरोधी हो जावेंगे तथा नियत समय पर उधारी की राशि न लौटाकर, आपको ही अनुदार साबित करने की कोशिश करेंगे।

लगे हाथ, मेरे ही एक संबंधी का अनुभव भी सुन लीजिये। उन्होंने अपने छोटे भाई को पढ़ा लिखाकर व्याख्याता नियुक्त कराया तथा अपनी ज़मीन पर भी उसका ही नाम दर्ज करा दिया। अचल सम्पत्ति के नाम उनके पास केवल वह मकान रह गया जो उन्होंने स्वतः बनवाया था तथा जिसमें उनका निवास था। किंतु छोटे भाई ने उस मकान को भी अपना बतलाते हुए, उनके विरुद्ध दीवानी अदालत में दावा लगा दिया। मुक़दमा अभी चल ही रहा है। परिणाम जो भी हो, मैं तो सिर्फ़ यही बतलाना चाहता था कि यही है सामान्य मानव-स्वभाव की वास्तविकता। समाज में ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं है जो अनुदार, आलोचक और अकृतज्ञ हैं। लेकिन आपको ऐसे लोगों से मिलकर खिन्न नहीं होना चाहिये। संसार में ऐसे लोगों की संख्या ही अपेक्षाकृत अधिक है। ऐसे लोगों की आदतों को आप काफ़ी कोशिशों के बाद भी नहीं बदल सकते, बदलने की कोशिश भी मत कीजिये। बंदर को सीख मत दीजिये।

एक बन्दर बारिश में बुरी तरह भीग गया था। ठंड के मारे वह कांप रहा था। तभी उसने बया का घोंसला देखा। बया अपने परिवार सहित मज़े से उसमें बैठा था। बंदर को देखकर दुःख प्रकट करते हुए कहने लगा—अगर तुम भी मेहनत करके ऐसा ही घर बना लेते तो क्यों बारिश में भीगते? बन्दर पर इस सीख का उल्टा ही असर हुआ। वह ग़ुस्से में आ गया। घोंसले पर लपका और उसे नोचकर ज़मीन पर फेंक दिया। सोचिये, इतनी अच्छी शिक्षा के लिए तो बंदर को बया का एहसानमन्द होना चाहिये था। किन्तु, क्या उसने ऐसा किया? उसने तो उल्टे, उसे तबाह ही कर दिया।

कृतज्ञता आम है तो कृतघ्नता नीम; कृतज्ञता चंदन है तो कृतघ्नता बांस; कृतज्ञता गुलाब है तो कृतघ्नता कांटा; कृतज्ञता कोयल है तो कृतघ्नता कौआ; कृतज्ञता हंस है तो कृतघ्नता बुगला; कृतज्ञता गरुड़ है तो कृतघ्नता सांप। कृतघ्न व्यक्ति पलाश के उन फूलों की तरह होते हैं जिनमें सुगन्ध नहीं होती।

मैंने देखा है, कई माता-पिता संतान की अकृतज्ञता को लेकर सिर धुनते रहते हैं। वस्तुतः

(शेष पृष्ठ १६२ पर)

VEDA-SAVITA

English Sction : Vol 2, No 12, January, 1984

Vikara-vimana vijnana : The Cosmic Challenge of Man

Prof. Dr. Winfried PETRI

Postfach 106, Unterleiten 2, D-8162 SCHLIERSEE (West Germany)

19th CENTURY

1.1 Analysis and Synthesis of Geophysics and Astron The first German scientist whose work is focussed towards a cosmic humanism was probably Alexander von Humboldt. He lived for 90 years, from 1769 to 1859—about half the time in the 18th and half the time in the 19th century. If you read his last bulky work, entitled "Kosmos", you shall see, how far he had incorporated all knowledge of his times in biology, geography and astronomy, and how far he was ahead of his times in forecasting, e.g., solarterrestrial relations and the development of stars, or even the impact of technological progress, like steampowered traffic and telecommunication by electricity.

As a philosopher, Humboldt asked for the meaning of the many different things in Nature. He guessed the laws of causation and harmony apparent in them. He saw the way from change to permanence, from development to perfection, from manifestation of a primeval matter in our surrounding Nature to the always advancing progress of human mind.

Humboldt proclaimed the overlapping unity of telluric and sideric (earthly and celestial) objects and phenomena; he related the spritual world of Man to this external, single world of Nature; and he hoped for a continual progress of intellectual and social perfection of mankind. Without going into details by many citations from his "Kosmos", we can see that Humboldt was an outstanding teacher of *vikara* : of change and development, in a throughout optimistic view of our future here on earth and beyond.

1.2 Natural and Social Evolution : Another German thinker I wish to introduce to you as a representative of the 19th century, is Friedrich Engles. Born in 1818, he lived from 1850 to the end of his life in 1895 in England as a well-to-do businessman. He mastered many languages and had, almost like Humboldt, an encyclopaedic knowledge of the scientific achievements of his time. But his own work on the "Dialectics of Nature" is fragmentary, because Engels gave after the death of his intimate friend, Karl Marx, in 1883, all his time and strength to the edition of volls. 2 and 3 of Marx's fundmental work "Das Kapital".

Albeart Einstein, when asked for his opinion concerning an edition of Engels' own

unpublished papers, considered such a task worthwhile; but only as late as in 1925. Thirty years after the author's death, the "Dialektik der Nature" has been printed for the first time in Moscow, unknown to the general public. And it took 30 more years before Engels began to be appreciated as a natural philosopher in his own right, mostly due to the incessant efforts of Academician Kedrov in the USSR.

Since Friedrich Engels is still not sufficiently known, you may be astonished to know that I found recently a close relationship between him and Humboldt. This relationship is evident under the aspect of *vikara*. Like Humboldt, Engels too is an optimist, and he sees the whole cosmos as a coherent and selfconsistent entity, articulated in time as well as in space by an evolutionary sequence of what he calls "forms of motion of matter". Moreover, Engels believes in a parallelism of the laws of Nature and the laws of behaviour of man as a social being. This parallelism is based upon the ubiquitous validity of causality and the dialectical trend to higher and higher levels of integration in Nature and in society. More of Engels' conception of Matter will be discussed in the last section of this lecture.

20th CENTURY

2.1 Albert Eienstien and his Theories : Now we proceed to the 20th century and to *vimana*. Interpreted as 'measuring out', *vimana* is an appropriate characteristic of the great achievements of science from 1900 to 1980—in fundamental physics as well as in astronomy and astrophysics. Many names could be evoked here, among them some outstanding Indians also, like Homi Jehangir Bhabha and Subrahmanyam Chandrasekhar. But the biggest impetus is without doubt due to Albert Einstein. His theories of relativity, well-known to this distinguished auditory, initiated the "measuring out" of the world—from elementary particles to clusters of stellar systems, black holes and the fourth dimension (time) as an intrinsic constituent of being in general. By the way, the imortance of time has been stressed already in the Buddhist *Kalacakra*, where *kala* is deemed to be the most powerful cosmic force of all.

2.2 Uprise of astronautics : But there is the other meaning of *vimana*, equally well representative of what happened in the years between 1900 and today, but known to the general public only since 1957, when the first artificial satellite orbited the earth and when in the wake of this secular event speculations on extraterrestrial forms of life became of actual interest to interdisciplinary scientific activities—let alone science-fiction and certain incompetent 'bestsellers'.

Vimana in the sense of "chariot of the gods" is a handy catchword for astronautics, the physical pentration of Man into outer space. Besides the Russian Konstantin Tsiolkovsky, the American Robert Goddard, and the Transsylvanian Hermann Oberth, the intellectual pioneers of spaceflight, the German Wernher von Braun was a prominent and very efficient advocate of astronautics. It is gratifying indeed that India already takes her share in those achievements : the two satellites with the wellominous names of *Aryabhata* and *Bhaskara* as much in orbit today as any foreign satellites.

(to be continued)

Riddle of Life : Necessity of Supraphysical Knowledge—2

Prof. Dr. Ardhendu Sekhar Chakravarty

Saha Institute of Nuclear Physics, 92 Acharya Prafulla Chandra Road, CALCUTTA 700 009

For the Vedic philosophers, the artificial division of nature into separate objects is not fundamental and any such object has a fluid and ever-changing character. The Vedic view is therefore intrinsically dynamic and contains time and change as essential features. A transformation of one form into another, in the time scale, is inevitable. The entire universe is viewed as one inseparable reality—the universe is in motion for eternity, alive—spiritual and material at the same time Since motion and transformation are essential properties of objects, the forces causing the motion are not outside and cannot be outside the objects but must be the intrinsic property of matter. Correspondingly, the Vedic image of the Divine is not that of a ruler who directs the world from above, but that of a principle that controls everything from within. Likewise life and hence conciouness must therefore be a force or energy which must be an outcome of the involved consciousness of the atoms making up the lifon structure. In the Brhadaranyaka-Upanishad (3.7.15) one finds this idea clearly manifested in the following verse :

He who inhabits all beings
But is within them
Whom no being knows
But whose body is all beings
And who controls all beings from within
He is the eternal Ruler
Your own immortal Self.

In the twentieth century physics, the question of consciouness has arisen in connection with the observation of atomic phenomena. Quantum theory has made it clear that these phenomena can only be understood as links in a chain of processes, the end of which lies in the consciousness of the human observer. The pragmatic formulation of quantum theory used by the scientists in their work does not refer to their consciousness explicitly. Wigner and other physicists have argued however that the explicit inclusion of human consciousness may be an essential aspect of future theories of matter.

According to Sri Aurobindo, in order to understand and realise the truth behind the ultimate reality and the creation of life, one must be in possession of an integral knowledge. To refuse to enquire upon the above question, *a priori* in a calculatedly deleberate way, is to resort to an obscurantism as prejudicial to the extension of knowledge as the religious obscurantism which opposed the extension of scientific truth in Europe. It should be realized that to appreciate the great discoveries of modern science, one needs a thorough training, right attitutde, proper backgr.und and great desire before one can truly understand and judge. It is impossible for an untrained mind to follow the relativity theory of Einstein or the modern quantum theory of other difficult scientific truths. One can verify an experimental truth only by performing a similar experiment. Likewise to appreciate a spiritual knowledge one also needs a thorough and methodical training of mind and also proper attitude and background. Integral knowledge demands an exploration and an unfolding of all the possible domains of consciousness and experience.

These have to be discovered and properly correlated with the total reality. Spiritual knowledge is a great domain of human consciousness, it has to be properly explored. The supraphysical world (the hidden world) is as real as the physical world and to know it is a part of a complete knowledge But unfortunately, the knowledge of the supraphysical has been associated with mysticism and occultism which has been banned as a superstition. But occult is a part of existence and means no other then a research into the supraphysical realities which lead to discoveries of the hidden laws of being and these it attempts to discover the secret laws of mind and mental energies and life energy—all that nature has not put into visible operation on the surface. It is interesting to not that physical science. also is, in its own way, on occut science since it brings to light the seret workings of nature which she deliberately kept concealed and unrevealed.

By uncovering some of the secret workings of nature material science has progressed through centuries and has brought so much benefit to humanity which would have been impossible otherwise. It may even be found that a supraphysical knowledge is necessary for the completion of physical knowledge, because, as stated before, behind the working of physical nature there is a supraphysical factor, a power, fundamentally spiritual, which is not so easily accessible to our ordinary level of consciousness.

Fundamental validity of objective reality depends on our definition of the basic reality of matter. But it is now evident from modern physics, especially from elementary particle physics and also from the famous 'bootstrap' philosophy of Geoffrey Chew, that matter consists of nothing but the interactions of elementary particles with one another. It has therefore, turned out that we do not have a precise definition of matter. The diversity of matter arises in a fundamental sense from the differences in the interactions of the so-called elementary particles. These same elementary particles are also present in the atoms of the lifon structure. One can, therefore, easily conclude that the conception of matter that follows from the present conventional science, is. by no means, a fundamentally real one. Again, according to Einstein's theory of relativity matter is equivalent to energy given by the relation, $E=mc^2$, where E is the energy, m the mass and c the speed of light. It is becoming even doubtful whether the acts and creations of this energy itself are explicable except as interactions of the so-called elementary particles amongst themselves.

The main point to be realized is that, matter, living or nonliving, consists ultimately of the interactions of the so-called elementary particles and therefore it becomes almost imperative to be aware of the consciousness energy and force which is involved in the elementary parlicles, nay, in all forms of matter. We must know not only what matter is in its ultimate form but also what are their working processes in different topological structures. Only then can we have a knowledge sufficiently integral for the true solution of the all-important problem of the creation life.

आश्रम

रामाश्रय शर्मा, एम ए, पीएच डी
१३ यू बी, जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००६

[वेद-संस्थान, नई दिल्ली के एक साधना-शिविर में 'धर्मशास्त्र : एक परिचय'-प्रवचनमाला का ६ जुलाई, १९८० को हुआ द्वितीय प्रवचन। —सम्पादक]

१. कल मैंने आपके समक्ष, हमारे प्राचीन भारतीय ऋषियों के द्वारा जीवन को किस तरह से समझा गया था, किस तरह से उन्होंने जीवन की यथार्थता को पहचाना और आदर्श के साथ उसका समन्वय—पुरुषार्थ-कल्पना के रूप में—प्रस्तुत किया, इस विषय पर चर्चा की थी। यह हम सभी जानते हैं कि आदर्श का मूल्य तभी होता है जब कि वह जीवन में उतारा जा सके। जो आदर्श अव्यवहार्य है उस आदर्श का कोई विशेष मूल्य नहीं। आदर्श का महत्त्व तभी होता है जब कि हम उसे जीवन में चरितार्थ कर सकें।

आज जो चर्चा का विषय है वह संक्षेप में यही है कि हमारे ऋषियों ने न केवल इस आदर्श को देखा बल्कि उन्होंने एक ऐसी जीवनपद्धति की रचना भी की जिसमें यह आदर्श हर व्यक्ति के लिए व्यवहार्य बन सके। दो व्यवस्थाएं—हमारे समस्त समाज की रीढ़ की हड्डी कह सकते हैं, नींव कह सकते हैं, आधार-शिलाएं कह सकते हैं—बनाई गई थीं। इनके नामों से हम सभी परिचित हैं। एक है आश्रम-व्यवस्था, और दूसरी है वर्ण-व्यवस्था। प्राचीन भारतीय-जीवन का आधार ये दो व्यवस्थाएं थीं, वर्णाश्रम-व्यवस्थाएं। व्यक्ति का जीवन वर्णाश्रम-व्यवस्थाओं से व्यवस्थित था। और सारी जो, समाज की, कल्पना थी वह इन दो के सहारे से चलती थी। इनमें से एक है आश्रम-व्यवस्था।

आश्रम शब्द का अर्थ थोड़ा हम ध्यान में लें। संस्कृत में एक धातु है **श्रम्**, जिसका अर्थ होता है परिश्रम, उद्यम करना। 'आश्रम' शब्द का अर्थ है, **आश्रम्यन्ति अस्मिन्**, जहां लोग आकर श्रम करते हैं, परिश्रम करते हैं।

आपको स्मरण होगा—कल मैंने उल्लेख किया था—जो भी उद्यम, प्रयत्न, कर्म हमारे द्वारा किया जाता है उसका कोई न कोई लक्ष्य होता है। संस्कृत में एक मोटी कहावत है, **प्रयोजनं अनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते**, बे-मतलब तो मन्दबुद्धि भी काम नहीं करता। फिर मनुष्य तो अत्यन्त बुद्धिमान् प्राणी है। इसलिए उसका श्रम प्रयोजन को दृष्टि में रखकर किया जाता है। जिन चार आश्रमों की कल्पना ऋषियों के द्वारा की गई उन चारों आश्रमों में विशेष प्रयोजनों को दृष्टि में रखकर श्रम किया जाना चाहिए, यह व्यवस्था बनाई गई थी। मनुष्य के जीवन को चार हिस्सों में विभक्त कर दिया गया, और उसी के अनुसार चार आश्रमों की कल्पना की गई। ये नाम अवश्य ही आपने सुने हुए हैं, ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थ-आश्रम वानप्रस्थ-आश्रम और संन्यास-आश्रम। ये चार आश्रम हैं। इनमें मनुष्य के जीवन को बांटा गया। थोड़ा विचार करके देखिए कि इन आश्रमों की कल्पना के पीछे भावना क्या थी, इसकी ख़ूबी क्या थी।

२. बालक जन्म लेता है। प्रकृति से ही उसे अनेक प्रकार का वरदान प्राप्त होता है। उसके पास देह है। उसके पास इन्द्रियों की शक्ति है। उसके पास बुद्धि की शक्ति है। उसके पास आत्मा की शक्ति है। ये शक्तियां प्रकृति ने ही उसको दी हैं। लेकिन इन शक्तियों का धीरे धीरे विकास होता है। मनुष्य अपने निजी प्रयत्न से ही इन निजी शक्तियों का विकास करता है।

आप सभी जानते होंगे, और मेरा यह निश्चित अनुभव है, बुद्धिहीन कोई मनुष्य नहीं होता।

अन्तर केवल इतना ही होता—मैं अध्यापक हूं इस लिए आपसे निवेदन कर रहा हूं; बहुत से विद्यार्थी, मैंने देखे हैं, ऐसे भी होते हैं कि कोई परीक्षा में बहुत ही अच्छी सफलता प्राप्त करता है, कोई परीक्षा में अनुत्तीर्ण भी रह जाता है लेकिन बुद्धि-हीन कोई विद्यार्थी मैंने नहीं देखा; अन्तर केवल इतना ही होता है—किसी की बुद्धि विकसित हो पाई है, किसी की बुद्धि विकसित नहीं हो पाई है। किसी ने बुद्धि को एक दिशा में विकसित किया है, किसी ने अपनी बुद्धि को दूसरी दिशा में विकसित किया है। बुद्धिहीन, मनुष्य, नहीं। आत्मा की शक्ति के बारे में तो हम सभी जानते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से कोई बहुत प्रबुद्ध होते हैं। अधिकतर सांसारिक प्राणी आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत कम विकसित होते हैं। लेकिन आत्मा की शक्ति हम सबमें विद्यमान है। इसके बारे में कोई संदेह नहीं है क्यों कि यदि हमारे अन्दर आत्मा न होती तो हम 'जीवित' कहला ही नहीं सकते थे, कोई हमारी कर्मेंद्रिय या ज्ञानेन्द्रिय किसी प्रकार का व्यापार कर ही नहीं सकती थी। अन्तर केवल इतना ही है कि इन शक्तियों को विकसित करना है। इसलिए आश्रम-व्यवस्था के अंतर्गत पहला आश्रम बनाया गया ब्रह्मचर्य-आश्रम।

आज भी, आप देखिए, किसी भी देश में देखिए, किसी भी समाज में देखिए, मनुष्य का जो जीवन का पहला चरण है वह सर्वत्र इन शक्तियों को विकसित करने ही के लिए है। कोई कोई दुर्भागी व्यक्ति होता है या कोई कोई साधनविहीन समाज या वर्ग होता है, उसको यह अवसर नहीं प्राप्त होता कि वह अपनी शक्तियों का विकास कर सके। हम अपने समाज में देखते हैं—हम ग़रीब देश कहलाते हैं, हमारे जैसे एशिया के और भी बहुत सारे ग़रीब देश हैं—बच्चा ज़रा सा बड़ा होता है कि उसे रोज़गार में लगा देने की कोशिश की जाती है। रोज़गार, यह उसकी विवशता है। यदि उसके पास, उसके माता पिता के पास, उस समाज के पास साधन होंगे तो कोई भी यह नहीं चाहेगा कि ज़रा सा बड़ा होते ही बच्चा रोज़गार में लगे। हर परिवार यह चाहता है, हर समाज यह चाहता है कि उसकी आगे आनेवाली पीढ़ी अपने अन्दर छिपी हुई शक्तियों का विकास करे ताकि वह स्वयं जीवन में लाभान्वित हो सके और समस्त समाज को लाभान्वित कर सके। इसलिए हमारे यहां जो पहली, आश्रम की, व्यवस्था की गई वह है ब्रह्मचर्य-आश्रम जिसका उद्देश्य है मनुष्य को प्रकृति के द्वारा दी गई, देह, मन, बुद्धि और आत्मा की, शक्ति का विकास करने का अवसर।

३. ब्रह्मचर्य के बाद अगला जो आश्रम आता है वह है गृहस्थ-आश्रम। आगे के जो आश्रम हैं ये बहुत प्रत्यक्ष रूप से 'पुरुषार्थ'-कल्पना के साथ जुड़े हुए हैं। गृहस्थ-आश्रम मुख्य रूप से दो पुरुषार्थों की साधना के लिए बनाया गया है, अर्थ और काम। ये दो जीवन के पुरुषार्थ हैं। इन पुरुषार्थों की साधना, यही गृहस्थ का विशेष धर्म है, कर्तव्य है। लेकिन जैसा हमने कल देखा था, धर्मविहीन नहीं—गृहस्थ के जीवन में धर्म का स्थान नहीं है यह बात नहीं है—क्यों कि धर्म का अंकुश तो समस्त त्रिवर्ग पर विद्यमान है। वस्तुतः मोक्ष पर भी धर्म का, एक दृष्टि से, अंकुश विद्यमान है। नचिकेता की कहानी की बार बार चर्चा होती है। उस कठोपनिषद् में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से कही गई है, **नाविरतो दुश्चरिताद् नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसोपि प्रज्ञानेना माभ्याम्,** जिस व्यक्ति में नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठाएं नहीं हुई हैं वह आध्यात्मिक क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं कर सकता। अंगरेज़ी में भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है—तत्त्वचिन्तन को, जो ऊंचा दर्शन है, **फ़िलॉसफ़ी** है, उसको अंगरेज़ी में कहते हैं मैटाफ़िज़िक्स—No metaphysics without ethics. यदि इथिक्स का आधार नहीं है, यानी नैतिक, चारित्रिक यदि उत्कर्ष नहीं है तो फिर अध्यात्म के क्षेत्र में कोई उन्नति नहीं हो सकती। एक बात मुझे अभी याद आई। एक सामान्य व्यक्ति है, दुकानदार जिनसे पुष्प लेते हैं। वे बूढ़े आदमी हैं थोड़े, और

(शेष पृष्ठ १५९ पर)

योग का क्षेत्र और उसकी उपलब्धियां [३]

सोमचैतन्य श्रीवास्तव, एम ए, एम ओ एल, शास्त्री
डी ए वी कॉलेज, कोरापुट

: ५ :

योग की साधना पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड, दोनों स्तरों पर की जाती है। पिण्ड का जीवन ब्रह्माण्ड के तत्त्वों, शक्तियों और नियमों पर आश्रित है। पिण्ड में प्रतिक्षण क्षीयमाण पंच भूतों के अंशों की पूर्ति ब्रह्माण्ड के पंच भूतों द्वारा निरन्तर होती रहती है। हठयोग की परम्परा की उपनिषदें यह मानती हैं कि पृथ्वीतत्त्व के क्षीण होने पर शरीर में वलित्व (झुर्रियां पड़ना), जलतत्त्व की कमी होने पर पलित्व (बालों का सफ़ेद होना), तेजःतत्त्व के क्षीण होने पर कान्तिनाश, वायुतत्त्व की क्षीणता से कम्पन, तथा आकाशतत्त्व के क्षीण होने पर मृत्यु होती है (वराहोपनिषद् ५.४-६)। पञ्चभूत-धारणा की योगविधि द्वारा इन भूतों के सूक्ष्म अंश को यथेष्ट मात्रा में धारण करके क्षीणभूत तत्त्वों की पूर्ति करके सदा युवावस्था के शरीर में रहा जा सकता है। यही नहीं, भूतधारणा द्वारा भूतजय होने पर पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश के गुण-धर्म योगी को कोई बाधा नहीं पहुंचा सकते तथा वह इन पञ्च भूतों का स्वामी बन जाता है (योगतत्त्वोपनिषद् ८४.१०३)। हठयोग, तंत्रयोग, बौद्ध योग, जैन योग, आदि सब योगप्रणालियों में भूतधारणा तथा भूतजय (तत्त्व-विजय) एक आवश्यक योगसाधना है। पर इनकी भूतधारणा-संबंधी साधना-प्रक्रिया भिन्न भिन्न है। पातंजल योग में, पञ्च भूतों में से प्रत्येक भूत की पांच (स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व) अवस्थाओं पर संयम करने से भूतों पर जय (३.४४) प्राप्त होती है। इस भूतजय के परिणामस्वरूप योगी में अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राकाम्य, ईशित्व, प्रभविष्णुता और यत्कामावसायित्व नामक आठ योगसिद्धियों का, कायसम्पत् का, तथा कायधर्मों का पञ्च भूतों द्वारा प्रतिबन्धित न होने का, सामर्थ्य प्राप्त होता है (३.४५)। भोजराज ने लिखा है कि जैसे गाएं अपने वत्स का अनुसरण करती हैं इसी प्रकार सब भूत एवं उनके स्वभाव (प्रकृतियां) योगी के संकल्प का अनुगमन करते हैं। भूतों पर जय होने से अणिमादि महासिद्धियां समाधि की सिद्धि में भी उपयोगी होती हैं। ईशित्व एवं प्रभविष्णुता नामक सिद्धियों द्वारा योगी शरीर, अन्तःकरण एवं पञ्च भूतों पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने में तथा अपनी इच्छानुसार उनकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय करने में समर्थ होता है। तद्धर्मानभिघात (३.४५) की व्याख्या करते हुए व्यास ने लिखा है कि पृथ्वी अपने मूर्त रूप से योगी के शरीरादि की क्रिया का अवरोध नहीं करती, वह शिलादि में भी प्रविष्ट हो जाता है। जल उसके शरीर को गीला नहीं करता। अग्नि उसे जला नहीं सकता। वायु उसे परिचालित नहीं कर सकता। वह अनावरणात्मक आकाश में आवृतदेह हो जाता है, अर्थात्, सिद्धों के लिए भी अदृश्य हो जाता है।

भूतों की जय से योगी को भूतों के गन्ध-तन्मात्रादि सूक्ष्म रूप, पृथिव्यादि स्थूल रूप, उनके गन्ध-स्नेह-उष्णतादि कार्य, उनमें अन्वयि त्रिगुण—सत्त्व, रज और तम, तथा उनके द्वारा सम्पादित होनेवाले अर्थवत्त्व—पुरुष के भोगापवर्ग, पर वशीत्व प्राप्त हो जाता है (३.४४)।

स्थूल और सूक्ष्म पञ्च भूतों के आवरण में उपहित रहकर कार्य करनेवाला आत्मा **भूतात्मा** कहलाता है। भूतात्मा के अन्तर्गत अन्नमय और प्राणमय कोष आते हैं तथा प्राण से सम्बन्धित सूक्ष्म शरीर का कुछ भाग भी। जब मनु विद्या और तप द्वारा भूतात्मा के शोधन (५.१०९) की बात कहते हैं तब उनका अभिप्राय यही है कि विद्या द्वारा पञ्च भूतों और उनके कार्यों का ज्ञान प्राप्त करके तथा तप (योग-विधि) द्वारा उनके सूक्ष्म एवं स्थूल भूतों पर विजय प्राप्त करके पांचभौतिक बन्धन

तथा आवरण से आत्मचैतन्य को मुक्त किया जाए। व्यास के मत में, प्राणायाम प्रमुख तप है क्योंकि इसी से रजोगुण और तमोगुण के सूक्ष्म मल दूर होते हैं। हठयोग, आदि अन्य योगपद्धतियों की भूतजय की साधना-विधि, 'भूतधारणा' में 'प्राणसंयम' का महत्त्वपूर्ण भाग है। काया-योग की साधना का संबंध 'इन्द्रियजय' से भी है क्योंकि इन्द्रियजय के अनन्तर शरीर को मनोजवित्व, अर्थात, मन के समान वेग (तीव्रतम गति) की प्राप्ति होती है (३.४८)।

: ६ :

काया-संयम, प्राणसंयम तथा भूतजय के बाद योगक्षेत्र की साधना में इन्द्रियों का संयम और शुद्धि, इन्द्रियों की क्षमता का विस्तार, दिव्य श्रवणादि की प्राप्ति, स्थूल इन्द्रियों का आश्रय लिए बिना श्रवणादि इन्द्रियकार्य करने में समर्थ होना, देश और काल के व्यवधान का अतिक्रमण कर पदार्थों और घटनाओं का ऐन्द्रिय अनुभव प्राप्त करना तथा 'अस्मिता'-तत्त्व पर वशीकार प्राप्त करके इन्द्रियजय की प्राप्ति का स्थान आता है। ज्ञानेन्द्रियां आत्मा की ज्ञानप्राप्ति के, तथा कर्मेन्द्रियां आत्मा की चेष्टा के द्वार हैं। यदि इन्द्रियों में, या इन्द्रिय और मन को संयुक्त करनेवाली नाड़ियों के मार्ग में, वात-पित्त-कफ दोषों के कारण और रजोगुण-तमोगुण के कारण कोई अवरोध या विकार आ जाए तो आत्मा की ज्ञान-ग्रहण करने एवं चेष्टा करने की क्षमता प्रतिहत हो जाती है। वह इस उपस्थित विकार या अवरोध की मात्रा के अनुपात में बाह्य जगत् का निर्भ्रान्त एवं पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में तथा जगद्व्यवहार करने में आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से असमर्थ हो जाता है। इन्द्रियों की अपने अपने शब्द, रूप, गन्ध, आदि विषयों के प्रति अत्यासक्ति, चंचलता और प्रबलता शरीर, प्राण, मन एवं बुद्धि को भी अस्थिर और चंचल बना देती हैं। विवेक, वैराग्य, शौच, सन्तोष, ब्रह्मचर्य एवं ईश्वरप्रणिधान का अभ्यास करने पर विषयों के प्रति इन्द्रियों की लोलुपता दूर होती है तथा वे विषयासक्ति का त्याग कर शांत और अचंचल बनती हैं। इन्द्रियों में वाणी, रसना, नेत्र, कर्ण, उपस्थ एवं कर प्रमुख हैं। इनके संयम पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्राणायाम एवं इन्द्रिय-सम्बन्धी तप द्वारा इन्द्रियों के रजोगुण तथा तमोगुण सम्बन्धी दोष दूर होकर इनमें निर्मलता और दीप्ति आती है तथा इनके सामर्थ्य में वृद्धि होती है (२.४३)। इन्द्रियों की चंचलता और मूढ़ता के मूल कारण ये ही दो गुण हैं। लौकिक व्यापार में भी सात्त्विक विषयों के ज्ञानग्रहण में और सात्त्विक कर्मों को करने में ही इन्द्रियों को लगाना चाहिए। असत् और अभद्र के सम्पर्क से इनका सर्वथा निरोध करना चाहिए।

प्रत्याहार (२.५५) के अभ्यास से इन्द्रियां बाह्य लक्ष्य के प्रति अपनी प्रवृत्ति को रोककर अन्तर्मुखी होकर अपने कारण–चित्त में लीन होकर रहती हैं। ऐसा होने पर ही इन्द्रियों पर परम वशीकार प्राप्त होता है तथा साधक 'धारणा' का अभ्यास आरम्भ करने में समर्थ होता है। अन्तर्लक्ष्य को विषय बनाने के लिए अन्तरिन्द्रिय की आवश्यकता है। जब तक इन्द्रियां बाह्य जगत् के शब्दादि विषयों के साथ संयुक्त होने की अभ्यस्त हैं तब तक वे अन्तर्लक्ष्य के साथ संयुक्त नहीं हो सकतीं। इन्द्रियां अन्तर्लक्ष्य के विषय के साथ यथेष्ट काल तक स्थिर भाव से संयुक्त रहकर उसको अपने अनुभव का विषय बना सकें, इसके लिए उनके द्वारा पहले बहिर्लक्ष्य को त्याग देना जरूरी हो जाता है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रत्याहार के द्वारा एक एक इन्द्रिय को पृथक् पृथक् रूप से नियन्त्रित करने का अभ्यास करके सब इन्द्रियों पर सामूहिक रूप से पूर्ण वशीत्व स्थापित किया जाता है।

योग-ध्यान में मन के अनुकुल और प्रीतिकर विषय के चुनाव का बहुत महत्त्व है। ऐसा करने से ध्येय विषय में मन को लगाना तथा उस विषय में देर तक उसे टिकाए रखना संभव होता है। भौतिक मन संस्कारवश और स्वभाववश ही इन्द्रियों के गन्ध, रूप, शब्द, आदि विषयों के सेवन में अनुरक्त

होता है। अतः उसके प्रीतिकर किसी एक प्रकार के रूप, रस, गंध, आदि विषय में मन को लगाने से मन चंचलता को त्याग कर स्थिर हो जाता है (१.३५)। पुनः इसी अभ्यास में उन्हीं गन्ध, आदि के सूक्ष्म रूप—दिव्य गन्ध, आदि—का अनुभव होने पर मन उन्हीं के रसास्वादन में मग्न रहने लगता है। विषयवती धारणा का यह प्रबल तथा दीर्घकालिक अभ्यास साधक को सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति (१.१७,४२) में भी पहुंचा देता है। व्यास ने, योगमार्ग पर साधक की श्रद्धा को दृढ़ बनाने के लिए तथा योगसाधना के सूक्ष्म विषयों के फलवान् होने का विश्वास दिलाने के लिए, नवीन शिष्य को इस विषयवती धारणा का आरम्भ में अभ्यास कराने की प्रबल अनुशंसा की है क्यों कि इस साधना में दिव्य गंधादि की सिद्धियों का शीघ्र अनुभव हो जाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान संबंधी योगसिद्धियों की प्राप्ति संयम द्वारा होती है। श्रोत्र और आकाश के संबंध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र की प्राप्ति होती है [३.४१]। इसी प्रकार, भिन्न भिन्न इन्द्रियों के आकाश के साथ संबंध में संयम करने से उन उन इन्द्रियों के विषयों के दिव्य रूप का ज्ञान होता है। पुरुष के स्वार्थ में संयम करने पर पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होने पर इन्द्रियों में प्रातिभ सिद्धि, अर्थात्, इन्द्रियनिमित्त के बिना ही केवल प्रतिभा (अन्तःप्रज्ञा, intuition) के द्वारा सूक्ष्म (अतीन्द्रिय), व्यवहित (छिपी हुई), दूरस्थ, अतीत और अनागत वस्तुओं को देखने, सुनने, सूंघने, स्वाद ग्रहण करने, और स्पर्श करने की योग्यता प्राप्त होती है (३.३६)। इन्द्रियों के ग्रहण (विषयाभिमुखी वृत्ति), स्वरूप (विषयों का प्रकाशकत्व), अस्मिता (इन्द्रियों की उत्पत्ति का हेतु), अन्वय (इन्द्रियों में अन्वित त्रिगुण) तथा अर्थवत्त्व (इन्द्रियों द्वारा पुरुष के भोग-मोक्ष का सम्पादन), इन पांच रूपों में संयम करने से 'इन्द्रियजय' की प्राप्ति होती है। इन्द्रियजय के द्वारा योगी को मनोजवित्व, विकरण-भाव (शरीर के बिना ही इन्द्रियों द्वारा त्रैकालिक समस्त विषयों में वृत्तिलाभ [ज्ञान]), तथा प्रधानजय (कार्यकारणरूप में विद्यमान प्रकृति के सब परिणामों—विकारों पर पूर्ण अधिकार) की प्राप्ति होती है (३.४७-४८)।

अस्मि [मैं] का भाव व्यष्टि-भाव और पार्थक्य का जनक तथा अज्ञानग्रन्थि का मूल है। अहं द्वैत-[विभक्त]-ज्ञान का कारण है। अहंभाव का उदय होने पर व्यापक शुद्ध चैतन्य आत्मा 'जीव'-भाव में आबद्ध हो जाता है और अल्पज्ञ, अशक्त, सुखी-दुःखी, आदि की उपाधि को धारण कर अपने को सीमित चैतन्य मान लेता है। अहं राग द्वेष, मोहादि का प्रेरक हेतु है। यही कर्ता, भोक्ता है। अहंभाव से इन्द्रिय और मन की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियों का मूल स्रोत विश्व-प्रकृति का अहं-तत्त्व है। अतः इस मूल कारण (अहं) पर अधिकार करने पर न केवल इन्द्रिय पर अपि तु प्रकृति के सब कार्यों पर वशीत्व प्राप्त हो जाता है। 'अस्मिता' और 'अहंकार' में सूक्ष्मभेद है। जहां अहम् (मैं) के उल्लेख द्वारा विषयों का ज्ञान होता है, यथा, मैं देखता हूं, मैं सुनता हूं, इत्यादि—वहां 'अहंकार' है। 'अस्मिता' सत्ता-मात्र के अवशिष्ट रहने का बोध कराता है। 'अस्मि'-रूप में अवशिष्ट सत्ता-मात्र का साक्षात्कार सम्प्रज्ञात समाधि के चतुर्थ भेद 'अस्मितारूप' समाधि में होता है। यह 'अस्मि'-भाव जब प्रतिलोम परिणाम की समाधि-प्रक्रिया द्वारा प्रकृति में लीन हो जाता है तब 'अस्मिता' पर विजय की प्राप्ति होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि संप्रज्ञात समाधि की चतुर्थ अवस्था में जब पुरुष में 'मैं हूं', इस प्रकार की पृथक् सत्ताबोध का भाव भी सर्वथा लुप्त हो जाता है तथा चित्त के प्रत्यय से पृथक् उसे अपने स्वरूपार्थ का बोध हो जाता है तब उसे 'इन्द्रियजय' तथा उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न होनेवाले 'प्रधानजय', 'विकरण-भाव', आदि की प्राप्ति होती है।

क्रमशः

सुमति की संगति

बलदेव नैष्ठिक
आचार्य, आर्ष महाविद्यालय गुरुकुल, कालवा (जीन्द)

वयं स्याम सुमतौ । यजुर्वेद ११·२१

सुमति में हम रहें ।

उत्तम विचार, सद्विवेक का नाम सुमति है। जहाँ सुमति है वहाँ स्वर्गीय सुख का अथाह समुद्र है। जहाँ कुमति है वहाँ दुःख का घोर समुद्र है। सुमति की संगति मनुष्यजीवन को प्रकाशप्रभा के उच्चतम शिखर पर ले जाती है तो कुमति की संगति उत्कृष्ट मानव को भी अज्ञानतम की घोर निशा में ले जाकर पथ भ्रष्ट कर देती है। सुमति की संगति के तीन प्रमुख साधन हैं– (१) स्वाध्याय, (२) सत्संग, (३) आत्मचिन्तन। जीवनरूप अमूल्य वस्त्र की सफ़ाई के लिए भी इन तीनों से बढ़कर कोई बढ़िया साबुन नहीं है।

यदि नवयुवकों को यह भली प्रकार विदित हो जाए कि उनके कुविचारों का परिणाम कितना भयानक है तो वे निश्चय ही उससे घृणा करने लग जाएँ। कुविचारों का स्पर्श मात्र जीवन-पुष्प को झुलस देता है। यह विषयभोगों की अपेक्षा शीघ्र विनाशकारी परिणाम-वाला है। मस्तिष्क में कुविचार का स्पर्श होते ही जीवन और मृत्यु में संघर्ष होने लगता है।

गन्दे चित्रों और गन्दी पुस्तकों से अत्युत्तम जीवन विनष्ट होते पाए गए हैं। यदि आपके निवास में ये दोनों चीजें हों तो इन्हें शीघ्र अग्नि देव को भेंट करें। निकृष्ट मनुष्यों के दुर्गन्ध-भरे वचनों की छाया से भी अपने को सर्वथा दूर रखें, अन्यथा विनाश में विलम्ब न होगा।

सर आइज़क न्यूटन के युवाकाल में इटली का एक रसायन-विशेषज्ञ उनका गहरा मित्र बन गया, किन्तु उसने एक बार जो गन्दी सी कहानी सुनाई तो न्यूटन ने हमेशा के लिए उससे नाता तोड़ लिया। वस्तुतः अश्लील पुस्तकें, चित्र, गाने, नाटक तथा घटिया किस्म के दोस्तों से दूर ही रहें। एक बार भी कीचड़ में पैर पड़ जाने से पैर तो गन्दा हो ही जाएगा। फिर बिना जल से प्रक्षालन किए वह गन्दगी दूर नहीं की जा सकती।

कुविचारों से भरी गाथा मन में आजन्म प्रतिध्वनित होती रहती है। ऐसी एक भी कहानी कानों तक न पहुंचने दें। अन्यथा उसकी छाप ऐसी गहरी पड़ेगी कि छुटाए न छूटेगी। मन की पर्तों पर उतरे हुए गन्दे चित्रों की छाप को पूरी तरह विनष्ट करनेवाला कोई रसायन अभी तक नहीं बना है। अतः गन्दे विचारों की छाया तक से दूर भागना श्रेयस्कर है।

कई व्यक्ति ऐसा समझते हैं कि हम तो सर्वथा शुद्ध व निर्लेप हैं; हमारे ऊपर अभद्र श्रवण-दर्शन का कोई कुप्रभाव नहीं होगा। वस्तुतः ऐसे असावधान साधकों को विनष्ट होते देखा गया है। किसी भी व्यक्ति का स्वभाव प्राकृतिक रूप से ऐसा उत्तम नहीं होता कि उसे देखभाल व आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता न पड़े। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होता कि उसकी प्रकृति को उचित रूप में सुधारा, सँवारा न जा सके।

विषपुष्प (जूडास) वृक्ष पर पत्तों की अपेक्षा पुष्प पहले निकलते हैं। इसके पुष्प की सुन्दर चमक दमक से खिंचकर असंख्य कीट पतंग आते हैं और फूलों का विषैला रस चूसते हैं। वृक्ष के नीचे पड़ी अनगिनत लाशें इस बात को याद दिलाती हैं कि विषैले विचार सुमनों के मिथ्या आकर्षण से मृत्यु ही मिलेगी। अतः युवको! सावधान। उठो, जागो तथा श्रेष्ठ मनुष्यों को प्राप्त करके, सुमति की संगति करके जीवन का उत्थान करो एवं विश्व का उद्धार करो। संसार तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

प्रार्थना-मन्त्रों के अर्थों के आधार पर

पद्यानुवाद

नरेन्द्रार्य
ओ३म्-भंडार, मैनपुरी २०५ ००१

१) प्रभो आप संसार उत्पत्तिकर्ता,
सुखों के प्रदाता जु ऐश्वर्यधर्ता।
बचा दुर्गुणों से हमें दुःखहर्ता,
'नरेन्द्रार्य' दे भद्र कल्याणकर्ता ।।

२) प्रकाशी स्वयं सूर्य चन्द्रादि धारे,
रचा विश्व सारा प्रकाशे तु तारे।
जभी विश्व उत्पन्न सारा हुआ रे,
वही पूर्व से एक चैतन्य था रे ।।
वही शुद्ध चैतन्य था वर्तमानी,
धरा द्यौ जु धारे न कोई समानी।
स्वयं शुद्ध आनन्ददायी व ज्ञानी,
उसी की 'नरेन्द्रार्य' है भक्ति लानी ।।

३) प्रभो आत्मा के ज्ञान का है प्रदाता,
शरीरों समाजादि में शक्ति लाता।
सदा भक्ति श्रद्धा सुविद्वान ध्याता,
उसी की हि शिक्षा तथा न्याय भाता ।।
उसी का तु आधार है मुक्तिदाता,
कि है मृत्यु ही जो नहीं भक्ति लाता।
'नरेन्द्रार्य' जो सर्वआनन्ददाता,
तदाज्ञा जु धारें जुड़े भक्ति नाता ।।

४) अप्राणी तथा सृष्टि में प्राण वाले,
सभी को वही एक राजा संभाले।
रचे अङ्ग जो हैं कि दो पाद वाले,
तथा अन्य गौ आदि चौपाद वाले ।।
सुखों का प्रदाता जु आनन्ददाता,
सदा ही हमारा तु ऐश्वर्यदाता।
तदाज्ञा जु धारे 'नरेन्द्रार्य' माथा,
झुका भक्ति भारी करें प्रेम साथा ।।

५) जु पृथ्वी तथा तीक्ष्ण सूर्यादिकों को,
रहा धार जो मोक्ष को है सुखों को।
रचे औ घुमाये जु ज्यों पक्षियों को,
कि आकाश में लोक लोकान्तरों को ।।
सदानन्ददायी हमारा प्रभो है,
कि प्राप्तव्य औ कामना योग्य जो है।
'नरेन्द्रार्य' सामर्थ्य सम्पूर्ण जो है,
विशेषी करें भक्ति ऐसी कि सो है ।।

६) प्रजा स्वामि ना आपसे भिन्न कोई,
तिरस्कार देवे जु उत्पन्न होई।
जड़ों चेतनों को कि हो क्यों न कोई,
कि सर्वोपरी आप ना अन्य कोई ।।
जु वाञ्छा करें आपके आश्रयी हो,
प्रभो कामना सिद्ध म्हारी सभी हो।
'नरेन्द्रार्य' हो वस्तु प्राप्ती सभी तो,
लहैं स्वामिता जो धनैश्वर्य की तो ।।

७) मनुष्यो! प्रभू है हितू बन्धु जैसा,
लखो है किया विश्व उत्पन्न कैसा।
सभी कार्य का पूर्णकर्ता तु ऐसा,
जु जाने सभी लोक औ धाम तैसा ।।
सदानन्द जो मोक्षरूपी प्रभो हैं,
उसी में रमे सर्व विद्वान तो हैं।
'नरेन्द्रार्य' आचार्य वे ही गुरो हैं,
करें भक्ति वे न्यायकारी विभो हैं ।।

८) स्वयं हे प्रकाशी कि विद्वान मानी,
कि प्राप्त्यर्थ विज्ञान ऐश्वर्य, ज्ञानी।
चले आप्त औ धर्मधारी व ज्ञानी,
वही मार्ग हो प्राप्त हे ज्ञानवानी ।।
करा प्राप्त प्रज्ञान वा कर्म सारे,
हटा पाप कौटिल्य से पूर्ण म्हारे।
प्रशंसा 'नरेन्द्रार्य' हो श्रेष्ठ म्हारे,
सुखी हों सदा गा गुणों को तुम्हारे ।।

भूखे को भोजन

माता टेरेसा कहती हैं—प्रेम का संसार बसाओ। आपस में प्रेम करना सीखो। प्रेम के बिना दीनों की सेवा नहीं की जा सकती।

एक बार माता ने एक ग़रीब हिन्दू परिवार को देखा। परिवार में एक माँ थी और आठ बच्चे। माँ बीमार थी। खाने को एक दाना भी नहीं था। माता टेरेसा ने कुछ चावल जुटाये। सोचा—भूखों को अन्न मिलना ही चाहिए। सो वह, चावल लेकर उस परिवार में गई। बालकों की माँ ने चावल ले लिए। वह थोड़ी देर के लिए बाहर गई और ख़ाली हाथ लौट आई।

माता टेरेसा ने पूछा—कहाँ गई थी? चावल किसको दे आई?

वह बोली—माता! पास में एक ग़रीब मुसलिम परिवार है। उसे कई दिनों से खाना नहीं मिला। उस परिवार को चावल पहले चाहिए। हमारे लिए भगवान् और भेज देगा।

माता की आँखों में आँसू आ गये। बोली—ठीक किया बेटी! भूखे को भोजन कराने का अर्थ है भगवान् को भोग लगाना। तुम ग़रीब हो; पर इस बात को जानती हो। भगवान् तुमको भूखा नहीं रखेगा।

—इन्दुशेखर

यदि विज्ञास्यामः, वो वक्ष्यामः

[इस स्तम्भ में पाठकों की जिज्ञासाएँ प्रकाशित की जाती हैं। विज्ञ पाठक संक्षेप में इनके समाधान के लिए आमन्त्रित हैं। —सम्पादक]

१) ईश्वर यदि सर्वव्यापक है तो सबमें एक ही जैसी, और वे भी अच्छी, धारणाएँ होनी चाहिएं थीं। कुत्ते, बिल्ली, गधे, घोड़े जैसे पशुओं में ईश्वर को मानना क्या ईश्वर का अपमान करना नहीं है?

२) अनेक बालक अपने पूर्व-जन्म की बातें बता देते हैं। पर ऐसा कोई बालक संभवत: नहीं हुआ है जिसने किसी मानवेतर योनि में अपने पूर्व-जन्म की बातें बताई हों। अत: मनुष्यों का मानवेतर योनियों में जन्म लेना संदिग्ध प्रतीत होता है।

३) 'युग' का परिवर्तन कुछ लाखों वर्षों बाद मानते हैं, तो कुछ हर पांच सहस्र वर्षों बाद। वस्तुत: कितने वर्षों बाद 'युग'-परिवर्तन होता है?

—ठाकुर **प्रीतमचन्द्र कश्यप**, फलाई (सोलन)

संस्कृत-सुभाषित

आरोग्यं विद्वत्ता सज्जनमैत्री महाकुले जन्म।
स्वाधीनता च पुंसां महदैश्वर्यं विनाप्यर्थैः।

दामोदर गुप्त

आरोग्य, विद्वत्ता, सज्जनों से मित्रता, उच्च कुल में जन्म और स्वाधीनता पुरुष के लिए धन के बिना भी महान् ऐश्वर्य है।

नैव पश्यति जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति।
मदोन्मत्ता न पश्यन्ति स्वार्थी दोषं न पश्यति।

—चाणक्य

जन्मान्ध नहीं देख सकता। कामान्ध भी कुछ नहीं देख सकता। मदोन्मत्त कुछ नहीं देख सकते और स्वार्थी मनुष्य दोषों तक को नहीं देख सकता।

सुशीलो भव धर्मात्मा, मैत्रः प्राणिहिते रतः।
निम्नं यथापः प्रवणा पात्रम् आयान्ति सम्पदः।

विष्णुपुराण

सुशील बनो। धर्मात्मा, सबके मित्र, प्राणियों का हित करने में तत्पर बनो। जैसे पानी नीचे की ओर बहता है वैसे ही सम्पत्तियां पात्र को आश्रय बना लेती हैं।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'

सत्यभूषण 'शान्त', वेदालंकार, एम ए
ग्रीन पार्क, नई दिल्ली

अन्तर्मुख हो ।
लीन न हो, बाहर की,
चकाचौंध में,
चहल पहल में,
ठाठ-बाट में,
जल में, जलज सम रह,
अनासक्त हो
तपः पूत हो,
अन्तर्मुख हो ।।

* * *

देखा है, खूब रुपहले, मनभावने दृश्यों को
मोहिनी माया को,
सुत औ जाया को,
रमाया है चित्त,
आबद्ध है, कनक-कामिनी
के सुदृढ़ मोह-पाशों में !
किन्तु लखकर असारता जग की,
सहसा प्रबुद्ध हो । अन्तर्मुख हो ।।

क्या नहीं देखता,
प्रतिपल पट-परिवर्तन
राजा बन रहा रंक,
कानन, नंदन ।
मोहावर्त में,
चकराते, बिलखाते जन
लख नहीं पाते,
अदृश्य सूत्रधार को ।
कोटि कोटि जन,
चिंता-जर्जर,
आशा-निराशा के,
आरोहावरोह में, ग्रस्त ।
चले जा रहे, निरुद्देश्य ।
कोई ही धीर, योगी
झांकता है अन्तर में,
अवरुद्ध हो ।
अन्तर्मुख हो ।

पद्यानुवाद

कान्तिप्रसाद भटनागर
मंत्री, आर्यसमाज, हस्तिनापुर

अच्छा च त्वैना नमसा वदामसि, किं मुहुश्चिद् विदीधयः । सन्ति कामासो हरिवो ददिष्ट्वं, स्मो वय सन्ति नो धियः ।।

ऋग्वेद ८.२१.६

(हरिवः) आकर्षक ! सुन्दर ! (एना नमसा) इस नमन के साथ (त्वा च) तुझे ही (अच्छ वदामसि) हम सम्यक् पुकार रहे हैं । (मुहुः चित्) बारम्बार (किं विदीधयः) तू क्या विचार रहा है ? [हममें] (कामासः सन्ति) कामनाएं हैं [और] (त्वम् ददिः) तू दाता [है]। (वयम् स्मः) हम हैं [और] (नः धियः सन्ति) हमारी धारणाएं हैं ।

('प्रभु से विनय', मं. सं. ७)

तुझको पुकारते हैं मस्तक झुका के स्वामी ।
तू सोच क्या रहा है हम दिव्यता के कामी ।।
है धारणा हमारी तम-तोम सब मिटा दें ।
तेरे प्रकाश से हम जगती को जगमगा दें ।।
भू के समस्त मानव हों आर्य श्रेष्ठ-कर्मी ।
सुख से सुराज्य भोगें होवें न जन विधर्मी ।।
वैदिक सुधर्म ध्वज को हर द्वार पर फहरा दें ।
प्रत्येक मन-सुमन की जयमाल एक बना दें ।।
वे सब सुमन सुगन्धित चरणों में डार दें हम ।
अपना सुदिव्य जीवन तुझ पर ही वार दें हम ।।
तू काम-धुक् है स्वामी, दाता सभी को देता ।
यह कामना हमारी अब पूरी कर प्रणेता ।।

संस्कृत-स्वयंशिक्षण [५६]

[ये पाठ रटने के लिए नहीं, केवल समझने के लिए हैं। हां, किसी भी उत्साही व्यक्ति के लिए इन्हें एक मास में याद कर लेना कठिन नहीं है। चाहें तो, अभ्यासकार्य को शोधनार्थ, डाकटिकटों के साथ भेज सकते हैं। —सम्पादक

सप्तमी विभक्ति के प्रयोग

१) **अधिकरण में** : सप्तमी-विभक्तिवाले शब्दरूपों का प्रयोग प्रायः अधिकरण (कारक) में होता है। क्रिया के कर्ता का और/अथ वा कर्म का 'आधार' अधिकरण कहलाता है।

क्रिया के कर्ता/कर्म का 'आधार' तीन प्रकार का होता है : १) **संयुक्त**, जैसे, 'बालः खट्वायां सीदति' (बच्चा खाट पर बैठा है), इस वाक्य में कर्ता (बच्चे) का अपने आधार (खाट) से शरीर-संयोग सूचित हुआ है। २) **विषय**, जैसे, 'छात्रस्य रुचिर विद्यायां अस्ति' (छात्र की रुचि विद्या में है), इस वाक्य में कर्ता (रुचि) का आधार (विद्या) उसका विषय है। ६) **व्याप्य**, जैसे, 'जगति चैतन्यम अस्ति' (जगत् में चैतन्य है), इस वाक्य में कर्ता (चैतन्य) का आधार (जगत्) उसका व्याप्य स्थान है।

अधिकरण में सप्तमी विभक्ति का ही प्रयोग होता है। जैसे,

बालः **आसने** आस्ते। (बच्चा आसन पर बैठा है।)
मातः **स्थाल्यां** शाकं पचति। माता पतीली में सब्जी पकाती है।)
भक्तस्य इच्छा **मोक्षे** अस्ति। (भक्त की इच्छा मोक्ष में है।)
ब्रह्म **सर्वत्र** अस्ति। (ब्रह्म सबमें है।)
अद्य शनिः **पुष्ये** अस्ति। (आज शनि (ग्रह) पुष्य (नक्षत्र) में है।)
पायससेवनं **पुष्ये** कुर्यात्। (खीर का सेवन पुष्य-काल में करना चाहिए।)

२) कभी कभी **कर्ता** (कारक) में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है यदि कर्ता का सम्बन्ध किसी ऐसी क्रिया से हो जो किसी अन्य क्रिया को सूचित करती हो। जैसे,

सत्सु तरत्सु अ-सन्न आसते। (जब कि सत्पुरुष तर जाते हैं तब दुष्ट बैठे रह जाते हैं।)
अ-सत्सु तरत्सु सन्तः आसते। (जब कि दुष्ट तर जाते हैं तब सज्जन बैठे रह जाते हैं।)
इन वाक्यों में, **सत्, अ-सत्** कर्ता है 'तरत्' क्रिया के जो (क्रिया) कि 'आसते' क्रिया को सूचित कर रही है।

३) कभी कभी **कर्म** (कारक) में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है यदि कर्म (कारक) वाला शब्द **त+इन्**, इन दो प्रत्ययों वाला हो। जैसे,

देवदत्तः **व्याकरणे** अधीती अस्ति। (देवदत्त व्याकरण को पढ़ चुका है।)
इस वाक्य में (कर्ता) अधीती* का कर्म व्याकरण है। क्रमशः

***अधीती** प्रथमा विभक्ति का रूप है। जिस शब्द का यह रूप है वह (शब्द) है **अधीतिन्** (**अधीत+इन्**=अधीतिन्)।

सांस्कृतिक प्रदूषण

संसार के सभी देशों में सांस्कृतिक प्रदूषण से नई पीढ़ी को बचाने के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। जीवन में आई हुई विकृतियों से बचने का एक मात्र यही तरीका है। कहीं धर्म का आश्रय लेकर सोचा जा रहा है कि अति-आधुनिकता के घातक प्रभाव से सांस्कृतिक परम्पराएं और धार्मिक जीवन-मूल्य नष्ट न हो जाएँ तो कहीं समाजवाद या साम्यवाद के नाम पर ढकोसलों से भरी हुई ज़िन्दगी से मुक्ति पाने की चेष्टा की जा रही है। इसे दुर्भाग्य ही माना जा सकता है कि हमारे देश में इस विषय में अधिक जागरूकता नहीं है।

जो लोग आधुनिकता या नवीनता को किसी भी मूल्य पर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं वे भी कोई स्वस्थ परम्परा बना पा रहे हों, ऐसा दिखाई नहीं देता। उनके विषय में तो यह कहा जा सकता है कि वे अपने मस्तिष्क के एक भाग को शून्य बना कर रखना चाहते हैं। ऐसा बहुत समय तक नहीं चल सकता। जब मैकाले ने नई शिक्षा-पद्धति लागू की थी, तब उसका पर्याप्त विरोध हुआ था; पर आगे चल कर लोग उसके नाम पर बिक गए। नवीनता का केवल विरोध के नाम पर विरोध न हो। नवीनता के नाम पर चल पड़ी विकृतियों का ही तिरस्कार किया जाय।

पुरातनता में विश्वास रखने वाले निर्दोष जीवनपद्धति अपनाए हुए हों, ऐसा नहीं है। व्यर्थ के ढकोसले पुरातनता को भार बना देते हैं जिनसे मुक्ति पाये बिना आदमी को चैन नहीं पड़ता। वह यह भी भूल जाता है कि किसको ग्रहण करे और किसको त्यागे! इसी असमंजस की स्थिति में आदमी ने अच्छाई का सूत्र भी हाथ से छोड़ दिया। विकृतियाँ तो उसी रिक्त स्थान को भरने के लिए पनपी हैं।

आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है इस सांस्कृतिक प्रदूषण को रोका जाय। वेषभूषा, खानपान, रीतिरिवाज, संस्कारनिष्ठा, विद्या, व्यवसाय, श्रमसाधना आदि सभी में हमारी परम्परागत श्रेष्ठता प्रकट हो। संसार के सर्वश्रेष्ठ को ग्रहण करने में हम कहीं पीछे न रहें; पर अपने सर्वश्रेष्ठ को खोकर नहीं। आचार-विचार की पद्धति अपनी होनी चाहिए। चिन्तन और व्यवहार के मानदण्ड हमारे पूर्वजों ने भी स्थापित किए हैं। उनको सुरक्षित रख कर हम अपनी पहचान बनाये रख सकते हैं।

— **पंचोली**

(पृष्ठ १५० का शेष)

बड़े ज्ञान की चर्चा किया करते हैं। वे कह रहे थे एक दिन—परमात्मा हृदय के अंदर विद्यमान् है, इस बारे में कोई सन्देह नहीं; सभी धर्म इस बात को स्वीकार करते हैं। तो वे कह रहे थे कि 'यदि मैंने कोई बुराई की है तो वह भी परमात्मा ने ही की है। तो फिर इसके लिए मनुष्य को दोषी क्यों ठहराया जाता है?' यह बात बड़ी सही है। लेकिन प्रश्न यह है कि जब उस बुराई करने की वजह से दण्ड मिलता है तब भी ये भावना हमारी बनी रहनी चाहिए कि दण्ड भी परमात्मा ही से मिल रहा है। उस समय तो हम इस बात को भूल जाते हैं, कि बुराई करते समय तो हम बोझा सारा परमात्मा पर लादना चाहते हैं, और जब दण्ड मिलने लगता है या फल मिलने लगता है तब हम अपने अहम् को आगे करके अपने आपको उत्तरदायी मानने लगते हैं। तो चरित्र या नैतिक आधार को इस तरह से अलग करके अगर आप अध्यात्म की बात करेंगे तो फिर कोई प्रगति नहीं होगी। इसलिए इथिक्स का आधार विद्यमान है। इसलिए मैंने कहा कि धर्म का अंकुश जीवन में सर्वत्र विद्यमान है। तो ब्रह्मचर्य-आश्रम के बाद जिस गृहस्थ-आश्रम की कल्पना की गई उसका मुख्य उद्देश्य था अर्थ और काम की साधना, लेकिन धर्म की परिधि में रहते हुए।

क्रमशः

प्रतिक्रिया

१) डॉ फतहसिंह जी की सेवाएं आपको मिल गई हैं, यह अत्युत्तम है। इस पर आपके संस्थान को बधाई।

—डॉ **सुधीरकुमार गुप्त**, जयपुर

२) 'दयानन्द-स्वप्नांक' अतिगम्भीर भावों से परिपूर्ण है, ऐसा लगा। —**उदयवीर**, शास्त्री, ग़ाज़ियाबाद

६) 'स्वप्नांक' में उच्च कोटि के लेख हैं। श्री फतहसिंह धन्यवाद के पात्र हैं।....अंक पठनीय है।....आपका वेद-सम्बन्धी शोधकार्य अत्यन्त स्तुत्य है।....आपको अपने स्वप्न में—दयानन्द के स्वप्न को साकार करने में—सफलता हो, यह हार्दिक कामना है।

सत्यव्रत, सिद्धांतालंकार, नई दिल्ली

४) 'दयानन्द-स्वप्नांक' के लिए वेद-संस्थान को हार्दिक बधाई। —**देवीसिंह वर्मा**, नम्होल (बिलासपुर)

५) 'आनन्द का संतापक अस्त्र' में 'प्रतियोगिता' की नवीन व्याख्या पढ़कर विचारों का आलोडन हुआ। एक ओर 'सर्वाइवल ऑव् द फ़िटैस्ट' पाशविक सिद्धान्त, दूसरी ओर 'ऋजिश्वा' दैविक दृष्टिकोण, और बीच में 'प्रतियोगिता' भावना। किसी की लकीर को काटकर छोटा करने के स्थान पर अपनी लकीर को बड़ा करना अनुचित नहीं। एक के पीछे ईर्ष्या, तो दूसरी के पीछे स्पर्धा भावना है। त्रिगुणात्मक सृष्टि की उपज, मानव क्या इनके प्रभाव से बिलकुल मुक्त हो सकता है? त्रिगुणातीत होना असंभव नहीं तो कठिनतम अवश्य है। क्या ऐसा 'अहं' जो किसी के विकास में सहायक हो, निन्दनीय है? किसी अन्य को हानि पहुँचाए बिना, अपनी योग्यता, परिश्रम से आगे निकलना उचित ही है। इस प्रकार की अपनी उन्नति की भावना सात्त्विक अहंकार है जो कि मानवोचित है। —**बाबूराम शर्मा**, बटाला

६) 'दयानन्द-स्वप्नांक' बार बार मनन करने की अपेक्षा रखता है। आप और आपकी योजना स्तुत्य हैं।

—**ओम्प्रकाश रावत**, कांट (शाहजहांपुर)

७) 'दयानन्द-स्वप्नांक' एक अभूतपूर्व विशेषांक है, दयानन्द को सच्ची श्रद्धांजलि है। इससे डॉ फतहसिंह जी का भी सच्चा परिचय मिला है। इसे पढ़कर उनकी भाषा और शैली को न समझने की शिकायत करना किसके वश की बात होगी? वेद के रहस्य को पढ़ते ही हृदय गद्गद् हो उठता है। सरल, सुबोध शैली में उनके लेख श्लाघनीय हैं।

नवम्बर, '८३-अंक में 'सोम का संतापक अस्त्र' अत्याकर्षक है। वैसे सम्पूर्ण 'वेद-सविता' ही अंधेरे को चीरनेवाली स्वर्ण किरण है। —**सुधा वर्मा**, अजमेर

8) I was indeed thrilled to read the illuminaing lecture, याजक का जीवन in the Nov., '83 issue of 'Veda-Savita'. ....I have read many writings on Yajna but no one has explained it that nice as you have done in the above lecture. —**S. Ram Nath Rao**, Bombay

९) 'तपोभूमि' (मथुरा) ने अपने सितम्बर, '८३-अंक में 'सविता' के एक प्राचीन अंक से स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' का लेख 'सिद्धान्त' पुनः प्रकाशित किया है।

१०) 'शिल्पी' (मुज़फ़्फ़रनगर) ने अपने मई, '८३-अंक में 'वेद-सविता' के मई, '८३-अंक से 'ईमानदारी' लेख उद्धृत किया है।

११) 'मानवमहिमा' (बटाला) ने अपना नवम्बर, '८३-अंक 'विदेह'-कृतज्ञता-अंक' रूप में प्रकाशित किया है। इसमें स्वामी 'विदेह' के बारे में लेख, तथा स्वामी जी की कृतियों से उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करनेवाले चुनीदा लेख वा लेखांश दिए गए हैं। संपादन बड़ी सूझ-बूझ और श्रद्धा के साथ किया गया है। उनका भूरि भूरि अभिनन्दन।

मूल्यांकन

'विदेह'-वाणी : के प्रकाशन से वेद के सरलीकरण एवं विश्वव्याप्ति के संस्थानोद्देश्य में एक नवीन अध्याय आरम्भ हो रहा है। प्रभु सफलता की ओर अग्रसर करें।

—**वीरेन्द्र आर्य**, मेरठ

महामृत्युंजय मन्त्र का अनुष्ठान : पढ़ी। बहुत सुन्दर लगी, सरल भी।

—**गोकुलप्रसाद व्यास**, डेगाना (नागौर)

परम योग : यह छोटी-सी पुस्तक पढ़ी। तब लगा कि अध्यात्मिक साहित्य भी रसपूर्ण हो सकता है।

—**रा. सं. गरड**, बोरोड (लातुर)

संस्थान समाचार

अजमेर

'वेदामृत' : ६, २७ अक्टूबर को **अभयदेव** के, १३ को **मदनसिंह चौहान** का, २० को डॉ **बद्रीप्रसाद पंचोली** का वेदप्रवचन हुआ।

—**विश्वदेव शर्मा**, मन्त्री

नई दिल्ली ११० ०२७

सी २२, राजौरी गार्डन (दूरभाष : ५० २३१६)

साधना-सदन

दैनिक, महिला-सत्संग : यथा-नियम नवम्बर, '८३ में होते रहे। इनमें डॉ फतहसिंह, स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रेयोनन्द, स्वामी निर्मलानन्द के वेदप्रवचन होते रहे।

मासिक-सत्संग : १३ नवम्बर, '८३ को **अभयदेव** ने 'वेद का प्रयोजन' शीर्षक वेद-प्रवचन, **अव्यसश्च व्यचसश्च**.... (अथर्ववेद १९.६८ [.१]) ऋक् पर किया। भविष्य में मासिक सत्संग का समय ३ से ४ बजे सायं रहा करेगा।

वेदकक्षा : नित्य वेदकक्षा में डॉ फतहसिंह क्रमशः अथर्ववेद का अध्यापन कर रहे हैं। श्रीमती कोहली की वेदाध्ययन में रुचि इतनी अधिक बढ़ गई कि, आजीविका के कारण वेदाध्ययन के लिए कम समय दे पाने के कारण, उन्होंने अधिकाधिक समय वेदाध्ययन में देने के लिए अपनी रेलवे में नौकरी त्याग दी है।

साधना-शिविर : १४ से २० नवम्बर तक हुआ। इसका विषय था **तपः**। उत्तर प्रदेश, त्रिपुरा, दिल्ली, पंजाब, महाराष्ट्र, राजस्थान, हरयाणा, हिमाचल प्रदेश से शिविरार्थी पधारे। लगभग ३० व्यक्ति पूरे काल शिविर में रहे। स्थानिक व्यक्ति यथासुविधा विभिन्न आयोजनों में पधारते रहे। 'तपो'-याग सप्ताह-भर होता रहा। इसमें वेदों के 'तपः'-परक मंत्रों से घृताहुतियां होमी गईं। याग के मंत्रों का उच्चारणाभ्यास और अध्यापन कराया गया। तीन प्रवचनमालाएं हुईं— 'साधना' पर स्वामी श्रेयोनन्द की, 'तपः का वैदिक स्वरूप' पर डॉ फतहसिंह की, 'तपस्वि-चरित-स्मरण' पर मदनसिंह चौहान की। संस्थान के संस्थापक, स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' के जन्म-दिन, १५ नवम्बर को स्वामी 'विदेह'

के पावन स्मरण की वेला में, रतलाम के उप-ज़िलाधीश, जगदीशचन्द्र शर्मा का प्रवचन स्वामी 'विदेह' के व्यक्तित्व पर हुआ। स्वामी दयानन्द 'विदेह' ध्यान, योग-प्रशिक्षण कराया। मोहनलाल आर्य ने यज्ञ और सायंहोम में होतृत्व किया और संध्या कराई। विचार-गोष्ठी के संयोजन के अलावा, अभयदेव के सार्वजनिक वेदप्रवचन प्रातः-रात्रि हुए। महिला-सत्संग नित्य मध्याह्नोत्तर हुआ। एक रात्रि स्वामि-द्वय, अग्निवेश और इन्द्रवेश भी पधारे। अन्तिम दिन लगभग २० व्यक्तियों ने 'तपोदीक्षा' ली। स्वामी निर्मलानन्द के भजन हुए और एक प्रवचन भी। ऋषिलंगर के साथ शिविर समाप्त हुआ। शिविर के दिनों के भोजन का तथा ऋषिलंगर के भोजन का व्यय विभिन्न दानी महानुभावों और माताओं ने वहन कर संस्थान को इस आर्थिक भार से मुक्त रखा। सबके सहयोग से, विशेषकर जवाहरलाल कपूर, म. चैतन्यमुनि के, तथा हरकृष्ण-लाल ओबराए, नरेन्द्रा आर्या, कृष्णा मलहोत्रा, वीरेन्द्र आर्य, पी. जी. आनन्द के स्नेहयुक्त पुरुषार्थ से शिविर सानन्द सफल रहा।

साप्ताहिक सत्संग : भविष्य में प्रति-रविवार को सायं ४ से ५ बजे सत्संग हुआ करेगा। प्रथम साप्ताहिक सत्संग ४ दिसम्बर को हुआ। इसमें स्वामी श्रेयोनन्द का वेद-प्रवचन हुआ।

ब्रह्म-सदन

नवम्बर में तीनों संन्यासी अजमेर, गुलाबपुरा, नसीराबाद पधारे। वहां उनके वेदप्रवचन हुए। स्वामी दयानन्द 'विदेह' और डॉ फतहसिंह के वेदप्रवचन दिल्ली में अनेकत्र हुए।

अर्थ-सदन

नवीन होता : प्रशस्त : माता विद्यावती व्योत्तरा (न. दि)। **सम्मानित :** बलदेवसहाय, मोरिण्डा। **वेदनिष्ठ : कर्म-**वीर भंडारी, न. दि; दीपक सेठी, न. दि; देवव्रत, खुर्जा; बलवीर दीवान, दिल्ली; वीरेन्द्र तलवार, न. दि; वेदप्रकाश, न. दि; शान्तिस्वरूप सेठी, न. दि; । शिशिरकान्त, न. दि। **वेदभक्त :** रोशनलाल, बटाला; **पोषक :** अंजु मरवाह, न. दि.; आर्यसमाज, ग्रेटर कैलाश II, न. दि.; भगवानदास, न. दि.; महेश भैयाना, न. दि.; रश्मा खोसला; बटाला। संजय बजाज, बटाला; स्वर्ण भंडारी, न. दि.।

—**गन्धर्वराज पुरी,** कार्यालय-मन्त्री

(पृष्ठ १४८ का शेष)

बच्चे हमारी हर हरक़त पर नज़र रखते हैं, हमारी हर बात को ध्यान से सुनते हैं। अपनी संतान में कृतज्ञता का विकास करने के लिए, हम स्वयं कृतज्ञ बनें। धन्यवाद के पत्र लिखें। हमारा ऐसा व्यवहार देखकर हमारे बच्चे भी धन्यवाद देने की आदत सीख जायेंगे। कृतघ्नता तो वे बिना सिखाये ही सीख जाएँगे, लेकिन कृतज्ञता वे केवल संस्कारों से अथ वा शिक्षा से ही सीख पाएंगे। हमारे बच्चे वैसे ही होंगे जैसे हम उन्हें बनाएंगे। जिस प्रकार अंधकार को पीकर दीपक काला धुंआ छोड़ता है उसी प्रकार, अकृतज्ञ माता पिता के बच्चे भी अकृतज्ञ ही होंगे।

अपनी नियामतों के लिए ईश्वर को धन्यवाद दीजिये। जब तक आपके पास खाने के लिए भोजन और पीने के लिए पानी है, किसी भी बात की चिन्ता मत कीजिए।

काफ़ी पहले मैंने एक क़िस्सा पढ़ा था। एक आदमी के पास जूते नहीं थे, अतः वह दुःखी होकर भगवान् को बुरा-भला कह रहा था। तभी उसने सामने की सड़क पर एक ऐसे आदमी को देखा जिसके टांगें ही नहीं थीं। वह सहसा ही सिहर उठा तथा प्रभु के प्रति कृतज्ञता से भर उठा। जो हमारे पास है उसके बारे में शायद हम कभी नहीं सोचते। जो हमारे पास नहीं है, सदैव उसी के बारे में सोचते रहते हैं। यही हमारी सारी परेशानियों की जड़ है। हमें अपनी नियामतों के लिए ईश्वर के प्रति कृतज्ञ होकर सदैव उसकी ही स्तुति करनी चाहिए, तभी हम चिंताओं से मुक्त हो सकेंगे।

वेद-संस्थान के प्रकाशन

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' द्वारा रचित

△ **कर्मकाण्ड**

तपो-याग २.००
विजय-याग ०.८०
वृष्टियज्ञ-पद्धति ०.६०
वैदिक सत्संग ०.७०
,, साधना ०.८०
सत्यनारायण की कथा ०.८०
स्वस्ति-याग १.४०

△ **कर्मकाण्ड-व्याख्या**

जीवन-पाथेय १.२५
यज्ञोपवीत-रहस्य ०.२५
सन्ध्या-योग २.००

△ **ग्रन्थ-टीकाएं**

गीतायोग १२.००
योगालोक २.५०

△ **जीवनी**

अज्ञात महापुरुष १.५०
जीवन-ज्योतियां १.२५
राम-चरित २.५०
'विदेह'-गाथा ५०.००,६०.००

△ **नैतिकोत्थान**

उत्तम स्वभाव ०.४०
गृहस्थविज्ञान ४.००
गृहस्थाश्रम १.२५
चरित्र-निर्माण ०.७५
भारत के अध्यापकों से १.००
,, विद्यार्थियों से १.००
मानवधर्म ०.७५
विश्व-सुधार २.००
वैदिक बाल-शिक्षा [चार भाग; प्रत्येक : १.२५] ४.००
वैदिक स्त्री-शिक्षा [दो भाग; प्रत्येक : ०.८०] १.६०

△ **पद्य**

दयानन्द-चरितामृत ६.००
योग-तरङ्ग ०.३०
'विदेह'-गीतावली १.००

△ **योग**

ओङ्कारोपासना ०.५०
गायत्री-मन्त्र का अनुष्ठान ०.७५
परमयोग १.२०
महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान ०.४०
वैदिक योगपद्धति ०.७०
साधना ४.००
The Science of yoga 4.00

△ **यजुर्वेद-व्याख्या**

वेदव्याख्या-ग्रन्थ (यजु. १.१० अध्याय) ३०.००
[प्रत्येक अध्याय पृथक् पुष्पों में : क्रमशः:
३.००; १.८०; २.२५; १.२५; २.००;
२.००; ३.००; ४.००; ३.००; २.५०]
An Exposition of the Vedas 6.00
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (यजु. ११-२० अध्याय) ४०.००
[प्रत्येक अध्याय पृथक् पुष्पों में : क्रमशः:
४.००; २.००; १.६०; १.३५; ३.५०;
२.५०; ४.००; ३.५०; ७.००; ७.००]
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (३९वां अध्याय) २.००
,, ,, (४०वां ,,) २.००

△ **वेद-प्रवचन**

'विदेह'-वाणी (३ उद्गार) १५.००

△ **वेद-व्याख्या**

आनन्द-सुधा ०.८०
गायत्री २.००
The Vedic Prayers 1.50
प्रभु से विनय ६.००
वेदालोक ६०.००
वेदों की सूक्तियां ५.००
शिव सङ्कल्प ०.८०
सामवेद का अध्ययन १.२५

△ **वैदिक अनुसन्धान**

दयानन्द और उनका वेदभाष्य : फतहसिंह १०.००
मानवता को वेदों की देन ,, १२.००
भावी वेदभाष्य के सन्दर्भ-सूत्र ,, १५.००
सुपर्णाङ्क ३.००

△ **संस्कृत**

संस्कृतशिक्षा [दो भाग] १.२०
संस्कृत-स्वयंशिक्षक [दो पुष्प] ३.५०

△ **स्वास्थ्य**

स्वास्थ्य और सौन्दर्य १.५०
Health and Beauty 2.00

△ **सामयिक**

नेहरू : उत्थान और पतन ६.००
हिन्दु जाति के अस्तित्व की रक्षा २.००







यम उद्गार
प्रवचन

हस्थ को मर्यादाएँ
ात्मसाधना
ौका बनो
पना मार्ग
ीवनपद्धति

५.००

द्वितीय उद्गार
के प्रवचन

दर्शन के अधिकारी
योग का मार्ग
उसको जानो
गोपाल
यज्ञ-संस्कृति
वेदमाता द्वारा प्रशंसित

रु ५.००

तृतीय उद्गार
के प्रवचन

प्रभु का नाम, प्रभु का काम
प्रभु से मांगो
पूजित धन
शिशु बन, पूजित धन मांग
छिद्रपूर्ति
मेरी महिमा
दाम्पत्य जीवन

रु ५.००

अपने उद्धार के लिए, अपने घर, समाज को स्वर्ग बनाने के लिए

'विदेह'-वाणी

से बढ़कर अचूक उपाय नहीं है

इस युग के अद्वितीय उपदेष्टा, स्वामी 'विदेह' की चमत्कारी प्रेरणाएं आपकी कायापलट कर देंगी

रजिस्टर्ड सं आर. जे. (अजमेर) ३३ Licensed to post without pre-payment लाइसेंस सं पी. पी. ३१

ओ३म्

संस्थापक : स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' ※ वर्षम् ४ : अङ्क: ७; फ़रवरी, १९८४



वेद-सविता

सतत प्रकाशन का ३७वाँ वर्ष

वेदमन्त्र-व्याख्या का भूतल पर एकमात्र पत्र ※ वेद-स्वाध्याय का श्रेष्ठ माध्यम

वेद किसलिए ?

अ+व्यसश्च च व्यचसश्च च, बिलं वि ष्यामि मायया ।

ताभ्यां उद्-हृत्य वेदं, अथ कर्माणि कृण्महे ।।

ब्रह्मा । कर्म । अनुष्टुप् । अथर्ववेद १९.६८[.१]

१ (अ+व्यस: च) अ-ज्ञात के भी, (व्यचस: च) ज्ञात के भी (बिलम्) बिल को (मायया) माया द्वारा (वि स्यामि) मैं खोलता हूं ।

२ (ताभ्याम्) उन दोनों में से (वेदम् उत्-हृत्य) वेद का उद्धार करके

३ (अथ) फिर (कर्माणि) कर्मों को (कृण्महे) हम करते हैं । —अभयदेव

[इस मंत्र की व्याख्या इसी अंक में **वेद का उपयोग** शीर्षक से विद्यमान है । —सम्पादक]

अँधेरे चोर दे जो सौ युगों के । वह 'सहगल' वेद-सविता की किरण है ।

कहाँ क्या ?

इस अंक में प्रस्तुत हैं ५ वेदमन्त्रों पर चिन्तन

आजीवन : [केवल व्यक्तियों के लिए] १५० रु; विदेशों में ३०० रु; हवाई डाक से रु ५००
एक प्रति : १ रु;
वार्षिक : १२ रु [+विशेषांक-रजिस्ट्रेशन रु ३.००]; वी पी द्वारा रु १५.४०; विदेशों में ३० रु; हवाई डाक से रु ७०

ग्राहकी-अवधि : अगस्त — जुलाई ['वेद-सविता' के नवीन ग्राहक, चाहें तो, अगले जुलाई तक के शेष मासों के लिए एक रु प्रति-मासांक के हिसाब से राशि भेज सकते हैं।]

सम्पर्क-सूत्र

प्रधान-सम्पादकः : **बद्रीप्रसादः पंचोली**, एम ए, पीएच डी
६४, जीवनविहार कॉलोनी, आनासागर सर्क्यूलर रोड, [अजमेर ३०५ ००१
[अंगरेज़ी-खण्ड] म. **चैतन्यमुनिः**
प्रेस-रजिस्ट्रार पंजीयन-सं. : आर एन ३८०५१/८
प्रकाशक: : **वेद-संस्थानम्**, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड,
मुद्रक: : **प्रिण्ट हाउस**, अजमेर [अजमेर ३०५ ००१

वेद-संस्थान के उद्देश्य

वेद को विश्वधर्म बनाना, संस्कृत को विश्वभाषा बनाना, विश्व में वैदिक संस्कृति की स्थापना करना।

※

अध्यक्ष : **अभयदेव**, एम ए, पीएच डी

फ़रवरी, '८४ के वेदप्रवचन

वेद-संस्थान, अजमेर

रविवारीय 'वेदामृत' [प्रातः ८ से ९] में 'साधना'-यज्ञ के पश्चात् ५, १९ फ़रवरी को **अभयदेव** के, १२ को **मदनसिंह चौहान** का, २६ को डॉ **बद्रीप्रसाद पंचोली** का वेदप्रवचन।

वेद-संस्थान, नई दिल्ली

नित्य संस्कृत-वेद-अध्यापन सायं ३ से ४ बजे स्वामी **श्रेयोनन्द** द्वारा। ५, १९, २६ को **साप्ताहिक सत्संग** सायं ४ से ५। प्रति-मंगलवार ७, १४, २१, २८, को **महिला-सत्संग** सायं ४ बजे से। **मासिक सत्संग** (सायं ४ से ५ बजे) में १२ को **अभयदेव** का वेदप्रवचन।

हिमाचल प्रदेश के महाविद्यालय-, ज़िला-, और स्कूल-पुस्तकालयों के लिए अनुमोदित (शिक्षा-निदेशालय के पत्रांक : शिक्षा-एच (८)-६ (६) १/७७; दिनांक २४.१२. '८१ के अनुसार)

आत्म-स्मृति

स्वामी **विद्यानन्द 'विदेह'**

पञ्चतत्त्व के देहसदन में स्थित यह आत्मा पञ्च विषयेन्द्रियों द्वारा पञ्च विषयों में फंसकर विमोहित हो जाता है, अपने आपको भूल जाता है, अपने स्वरूप को भूल जाता है। इस आत्म-विस्मृति के कारण वह इस शरीर को और शरीर के भोगों तथा संबंधियों को ही अपना स्वरूप, अपना जीवन और अपना सर्वस्व समझने लगता है। **आत्म-विस्मृति दीनता की जननी है।** आत्म-विस्मृति उसे ऐसा दीन, हीन बना देती है कि वह दिव्यतम साधना के लिए अपने आपको नितान्त असमर्थ अनुभव करता है। वह अपनी क्षमता में संशय करता है।

मनुष्य का यह शरीर प्रकृतिजन्य है। शरीर में अधिष्ठित शरीर का यह आत्मा अ-प्रकृतिजन्य है। शरीर प्रकृतिजन्य पदार्थों का सेवन करेगा ही। उसे मायाधेनु का दुग्ध पान करना ही होगा। ऐसा किए बिना शरीर न स्थित रह सकता है, न स्वस्थ रह सकता है।

आत्मा प्रकृतिजन्य पदार्थों का सेवन नहीं कर सकता। वह तो केवल ब्रह्मधेनु का ही दुग्ध पान कर सकता है। किन्तु हम उसे ब्रह्मधेनु का दुग्ध-पान कराएं तब न। आत्मा ब्रह्मदुग्ध का पान करे, तब ही तो वह निर्विकार रह सकेगा, तब ही तो वह आत्मपवित्रता का निष्पादन कर सकेगा।

जब मनुष्य केवल शरीर से मायाधेनु का दुग्ध पान करता है और आत्मा से ब्रह्मधेनु का दुग्ध पान नहीं करता है तो शरीर के सान्निध्य से आत्मा विकार-विमोहग्रस्त होकर आत्मविस्मृति को प्राप्त रहता है और परिणामस्वरूप अपने को असमर्थ, दीन, हीन, कृपण और कायर अनुभव करने लगता है।

जब मनुष्य आत्मना ब्रह्मधेनु के दुग्ध का पान करता हुआ, शरीर से मायाधेनु के दुग्ध का पान करता है तो उसका आत्मा सर्वथा निर्विकार रहता हुआ आत्म-अवस्थिति से युक्त रहता है। ब्रह्मधेनु के दुग्ध के प्रभाव से मायाधेनु का दुग्ध भी निर्विकार हो जाता है।

आत्मा को आत्मना ब्रह्मधेनु का दोहन करना चाहिए। **योगी ब्रह्मधेनु का दोहन करते हैं। भोगी मायाधेनु का दोहन करते हैं।** योगी ब्रह्मधेनु का दुग्ध पान करते हैं। भोगी मायाधेनु का दुग्ध पीते हैं। आत्मना ब्रह्म में स्थित रहते हुए आत्म-अवस्थिति के साथ शरीर द्वारा त्याग-भाव से प्रकृतिजन्य पदार्थों वा भोगों का सेवन करना ब्रह्मधेनु का दोहन और मायाधेनु का अदोहन है। ब्रह्म-विमुख होकर शरीर से प्रकृतिजन्य वस्तुओं या भोगों का सेवन करना मायाधेनु का दोहन और ब्रह्मधेनु का अदोहन है।

यदि तू शुद्ध, बुद्ध और पवित्र होकर श्रेष्ठतम कर्म की साधना करना चाहता है तो तू सविता-धेनु का दोहन कर।

—**वेदव्याख्या-ग्रन्थ,** प्रथम पुष्प
[में यजुर्वेद १.२ की व्याख्या] से

वेद का उपयोग*

अभयदेव, एम ए, पीएच डी

[आरम्भ में ही निवेदन है कि इस लेख में **वेद** शब्द से इस नाम से प्रसिद्ध पुस्तकों से बिलकुल अभिप्राय नहीं है। पुस्तक-रूप वेद को चित्त में न रखें। तभी इस लेख को बुद्धि ग्रहण कर पाएगी। —लेखक]

किसी भी वेदमन्त्र का विश्लेषण यदि ठीक पद्धति से किया जाए तो उसका अभिप्राय हस्तामलक-वत् स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत मन्त्र में तीन बातें क्रमश: कही गई हैं, (१) बिल का खोलना, (२) वेद का उद्धरण, (३) कर्मकरण। बिल को खोलने का प्रयोजन है उसमें निहित वेद को ऊपर निकालना। और वेद के उद्ग्रहण का उपयोग है कर्मों को करना।

१. कर्म तो बिना वेद का उद्ग्रहण किए भी होते हैं। पर ऐसे कर्म 'किए' उतने नहीं जाते जितने 'हो' जाते हैं। कहने को तो मनुष्य को **कर्त्ता** कहा जाता है। कर्ता वह होता है जिसका 'तन्त्र' [करने की प्रक्रिया] उसका 'स्व'—निजी हो और उसी के वश में हो। कर्ता 'स्वतन्त्र' होता है। तन्त्र की यह स्व-ता, कर्म का यह स्वातन्त्र्य जिसके पास हो वह कर्ता है, स्वाधीन-कर्तृत्ववाला कर्ता। अन्यथा तो मनुष्य अपनी परिस्थितियों से जकड़ा हुआ है। हम अपने सारे जीवन-भर, परिस्थितियों के धक्कों से धकेले जाकर, प्राप्त परिस्थितियों के तक़ाज़े से कर्म करते करते मर, पच रहते हैं। अत: जीवन में अशांति, निराशा, दीनता, 'हा-हा'-कार, असन्तोष, ईर्ष्या, छीना-झपटी, स्पर्धा, राग-द्वेष, ये ही भर जाते हैं। आत्मा का आनन्द, बुद्धि की प्रसादता, मन की तृप्ति, प्राणों की ऊर्जा, शरीर की कान्ति, न जाने, कहां तिरोहित हो जाते हैं। अपने वर्तमान जीवन में, पाप-पुण्य-रूप कर्मों की गठरी, जो पहले ही कम भारी नहीं थी, और भारी होती जा रही है, यही प्रतीत होता है। जब शरीर छोड़ेंगे तब, उन्नति तो दूर, मां की कोख से जैसे आए थे वह भी नहीं रहे, कुछ अधिक ही विकार, वासनाएं चित्त में भर कर शरीर छोड़ रहे होंगे, ऐसा पूर्वाभास होने लगता है। फिर तो, सारा जीवन किसी 'पर' के ही 'तन्त्र' के अधीन बीत रहा है, यही समझना चाहिए। और **पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।**

जीने की इच्छा तो है। पर कर्मों को 'करते' हुए, स्वाधीन-तन्त्रतापूर्वक कर्मों का कर्तृत्व निर्वाहते हुए हम जी कहां पा रहे हैं! हमारी परिस्थितियां, हमारी विषयवासनाएं हमें जिधर धकेल रही हैं उधर हम जा रहे हैं। यह तो वैसा ही मजबूरी का जीवन है जैसा क़ैदी का होता है। बेचारा कोड़े खाता है और चक्की चलाता है, रस्सी बटता है। और कितनी बड़ी भ्रान्ति, कि हम 'स्व'-तन्त्र हैं। स्वतन्त्रता की तो स्पष्ट पहचान है—आनन्द। कर्म से आनन्द का निर्झर बहे, कर्म से संस्कारशोधन हो, कर्म से चित्त की ग्रन्थियां और संशय घटें, आसक्ति, 'मम' का घमंड ['मम'-ता]—अधिकारभाव शिथिल पड़े तो 'कुर्वन्न एवेह कर्माणि' सधा, यह समझना चाहिए, ताकि कर्म का लेप न चढ़े। ऐसे प्राणी को, शब्द के वास्तविक अर्थ में, **मनुष्य** [=मनु की संतान], **पुरुष, नर, धीर, आर्य, ऋषि, देव** कहा जा सकता है। प्रस्तुत वेद-मन्त्र में ऐसे ही स्वाधीन-कर्तृत्ववाले कर्मों की चर्चा है।

कर्माणि कृण्महे, हम विश्वासपूर्वक कह सकें कि हम कर्म 'कर' रहे हैं, हमसे कर्म 'हो' नहीं रहे, 'कराए' नहीं जा रहे। आत्मा के अनुशासन में रहती हुई, स्थित प्रज्ञा, अपने विवेक चक्षुसे निहारते हुए, मन को, और तद्-द्वारा, प्राणों (इन्द्रियों) को तनू[1] [देह]-माध्यम से कर्म में जोतती हो, मानो, कोई कवि-

---

* इस अङ्क के मुखपृष्ठ पर मुद्रित वेदमन्त्र की व्याख्या। —सम्पादक

१ तनू=विस्तार का साधन, आत्मा के व्यक्तित्व का पसारा।

कोटि का किसान हल चलाता हो,[2] तभी यह आत्मगौरव की वाणी ओष्ठों से बिखेरने का अधिकार हमें मिल सकता है। पर यदि मन की मानी के आगे एक ओर तो बुद्धि लाचार हो जाए और दूसरी ओर प्राण और शरीर दुर्बल, जर्जर हो जाएं तो हम वेदमंत्र के इन शब्दों—**कर्माणि कृण्महे** – को कहने के पात्र नहीं हैं।

२. कर्मों को आत्मानुशासित, शुद्ध, विवेकालोकित बुद्धि के निरीक्षण में करने के लिए **वेद** चाहिए। **वेद** ज्ञान है, वह ज्ञान जिससे हमें अपनी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, निरंजन-निर्विकार, 'आत्म'-ता, आत्म-त्व का, अपने चेतन 'स्व'-रूप (**विद्**=सत्ता) का, और फलतः अपने ब्रह्मवर्चस्—अदैन्य आनंद का (**विद्**=लाभ) भान रहता है। आत्मा का ज्ञान, आत्मा का अस्तित्व, आत्मा की तृप्ति—आनन्द, तीनों एक ही तत्त्व को समझने के लिए त्रिविध शब्दावली मात्र हैं। आत्मा का ज्ञान उसके अस्तित्व का और उसकी आनन्द-ता का ज्ञान ही तो है। वेद (आत्मानुभव) तत्त्व की इस त्रिविधता को **ऋक्, यजुः, साम** नाम दिए गए हैं।

इस वेद का उद्-हरण करना होता है। जैसे गहरे कुएं में से जल को ऊपर निकालते हैं वैसे अपने बुद्धि-रूप पात्र में भर-भरकर (**उद्-भरण,** अथर्ववेद १९.७२) अन्तर्निहित वेद को उद्धृत करना होता है। जिसने भी अपने जीवन में आध्यात्मिक साधना की है उसने यही किया है। भारत में, अन्य देशों में, भूत काल में, वर्तमान में प्रत्येक आध्यात्मिक पुरुष – सन्त, साधक, ऋषि, मुनि – यही करता रहा है, कर रहा है और करेगा। जितनी भी साधना-पद्धतियां, योग-सरणियां, तपः-प्रक्रियाएं, कर्मकाण्ड की विधियां, पूजा-अर्चा की रीतियां, नीति, नियमादि प्रचलित हुए हैं वे सब मानव की इस वेदोद्धार के यत्नों की लीकें हैं। अपने अपने देश, काल, परिस्थिति, आवश्यकता, स्वभाव के अनुसार सब अपने अपने ढंग से वेदोद्धार में लगे हुए हैं। जो जितना वेदोद्धार (आत्मतत्त्वानुभूति) कर पाएगा वह उतना ही महापुरुष, महात्मा, वेदवित् हो जाएगा।

३. वेद का उद्धरण किया जाता है बिल में से। सर्पादि नाना प्राणी भूमि में बिल खोदकर रहा करते हैं। बिल का ही विराट् रूप है कूआ, और भी विराट् रूप है तालाब, और विराट्तम रूप है समुद्र। समुद्र-रूप बिल में रत्न भरे पड़े हैं—एक से एक बढ़कर; एक नहीं, दो नहीं, चौदह रत्न, जिन्हें देवासुरमंथन द्वारा प्राप्त किया जाता है। कूप का मुंह खुला हो तो उसमें से जल के उद्धरण की संभावना हो सकती है। पर कूप में मिट्टी-पत्थर भर जाएं, बिल बंद हो जाए तो नीचे के सारे स्रोत, जलोद्गम के सारे रोम-कूप बंद हो जाते हैं। फिर कूआ, मानो, ऊर्ध्वबुध्न, और अधोबिल हो जाता है– पेंदा ऊपर, छेद नीचे। बिल में भरे मिट्टी-पत्थरों के दबाव से, बन्द स्रोतों का जल नीचे ही नीचे अधः प्रवाहित होकर रसातल में पहुंच जाता है।

वेद का उद्धरण जहां से किया जाता है वे बिल दो हैं, अ-व्यस् का बिल और व्यचस् का बिल। **व्यचस्**=विराट्, महान्, बृहत्—यह ब्रह्माण्ड, यह सृष्टि, यह जगत्। अ-व्यस् [अ-व्यचस्]=अणु। व्यचस् व्यक्त है, प्रत्यक्षानुमान का विषय है, निरुक्त है। अ-व्यस् अव्यक्त है, परोक्ष है, अनिरुक्त है। एक बाह्य है, तो दूसरा आन्तरिक है, गुहा है। हमारा जीवन भी अ-व्यस् और व्यचस्, इन दो भागों में विभक्त है। शरीर-प्राण-मन का क्षेत्र व्यचस् है, बुद्धि, आत्मा का क्षेत्र अ-व्यस् है। पर हैं दोनों एक दूसरे से संबद्ध और अनुस्यूत। दोनों में व्यचस् और अ-व्यस् का तारतम्य है। शरीर व्यचस् है तो प्राण उसकी अपेक्षा अ-व्यस् है। प्राण की अपेक्षा मन अ-व्यस् है। मन से बुद्धि की अव्यस्-ता अधिक है। बुद्धि से आत्मा की अव्यस्-ता और भी गहन है। बुद्धि इन पांचों तत्त्वों में, मानो, एक मोड़ (टर्निंग पॉइण्ट) है। बुद्धि से मन की ओर चलें तो मन-प्राण-शरीर का व्यचस्-लोक है। बुद्धि से आत्मा की ओर उन्मुख हों तो अ-व्यस् का गहनातिगहन, अनन्त, असीम, परम, चरम, वर्णनातीत तत्त्व है।

२. सीरा युञ्जन्ति कवयः।

बुद्धि व्यक्त-अव्यक्त का सेतु है, मिलनबिन्दु है। बुद्धि में दोनों के मुख मिलते हैं, वा खुलते हैं। शरीर-प्राण-मनरूप बिल का मुख बुद्धि में खुलता है। यह व्यचस् उर्ध्व-बिल छिद्र है। आत्मारूप बिल का मुख भी बुद्धि में खुलता है। यह अव्यस् उर्ध्वबुध्न छिद्र है। दोनों कूप मिलकर एक परिपूर्ण इकाई बनाते हैं। दो अर्धाण्ड मिलकर एक पूरा अस्तित्वाण्ड हैं। एक चेतन है, दूसरा जड़। एक केन्द्र है, दूसरा अनन्त, असीम, परिधि पर परिधियों का एक के बाद एक, अपार विस्तार। एक कण है, दूसरा विराट् है। एक गति है, दूसरी स्थिति है। पर हैं दोनों परस्पर अ-विनाभूत। अतः दोनों का बिल-मुख एक में पिरोया हुआ है—बुद्धि में। अतः वेदमन्त्र ने कहा कि अव्यस् का भी, और व्यचस् का भी, दोनों का एक बिल है।

४. इस बिल को साधक खोलता है (**वि ष्यामि**)। सं-वृत (बन्द) बिल की वि-वृति होते ही, अव्यस् में से भी और व्यचस् में से भी, दोनों में से वेदवारि के स्रोत फूट पड़ते हैं, स्वर्गंगा त्रिपथगा होकर सर्वत्र प्रसृत हो पड़ती है जिससे शरीर-प्राण-मन, सब आप्लावित हो जाते हैं वेद (आत्मानुभूति) से। वेद की धारा मानव के बहिर्मुखी, प्रवृत्तिप्रधान लौकिक जीवन को भी रूपान्तरित कर देती है और आन्तरिक, निवृत्तिपरक, लोकातीत, साधनैकगम्य तपोजीवन को भी। तब मनुष्य **पद्मपत्रम्-इवाम्भसि** हो जाता है। लोक में रहते हुए वह लोकातीत होता है। लोक का व्यवहार उसे कलुषित नहीं करता, वरन् बुद्धि-रूप **पवित्र**—चलनी से छानकर वह विकारों को परे ही छांट देता है। उधर आत्मा से सोम पवमान की धारा **पवित्र**—बुद्धिरूप चलनी में से फूट-फूटकर लौकिक जीवन को भी आनंद से सराबोर किए रहती है। नीचे से गायत्री का आरोहण सोम लाने के लिए, ऊपर से सावित्री का अवरोह। दोनों गंगा-यमुनाएं प्रज्ञासरस्वती में मिल जाती हैं।

५. यह होता है माया द्वारा। माया की उपासना से बिल खुल पाते हैं। माया मायावी विधाता की लीला है। माया उस शाश्वत खिलाड़ी की क्रीड़ा है, यह ब्रह्माण्ड जिसका खेल है। माया सतत वर्धनशील [**ब्रह्म**] की वर्धनशीलता है। सृष्टि के कण कण में मायावी की माया को, प्रकर्ता की प्रकृति को निरखने से, अपने से विराट् की विराट्ता को निहारने से अपनी लघुता का भान होता है जिससे अहंभाव नष्ट होता है। और अहं-रूप अहि-माया के हटते ही, इस वृत्र के घेरों के टूटते ही ज्ञान की गौएं, कर्म की नदियाँ फूट पड़ती हैं नाना रूपों में, **इन्द्रो मायाभि पुरुरूप** हो जाता है।

माया हेय नहीं है, माया पापिन नहीं है। माया तो निर्मात्री शक्ति है। माया के सांचे में ब्रह्माण्ड ढला है। माया माप है। माया ब्रह्म की वह आदि-अनादि शक्ति है जो **वाक्** बनकर सृष्टि का मूल है। माया में मायापति का दर्शन करने से मनुष्य अपने अव्यस् और व्यचस् क्षेत्रों के बिल को विज्ञानमय-कोष के क्षेत्र में खोल लेता है। फिर **अश्विनोर् बाहुभ्यां**, मानो, दोनों शक्तिभुजाओं से (बहिर्मुखता, अन्तर्मुखता से) वह वेद का स्रोत खोल लेता है। और वेद का उद्धरण हुआ नहीं, कि कर्म का लेप समाप्त—**न कर्म लिप्यते नरे**। लेपोच्छेद करके, अब जो कर्म होंगे वे 'सह'-ज, 'स्व'-भाव-ज, 'आत्म'-ज कर्म होंगे, भोग-विलास, विषय-वासनाजन्य नहीं। अब जो कर्म होंगे वे मात्र लौकिक प्रतिक्रियाएं नहीं होंगे, वरन् स्वतंत्र कर्ता के कर्म होंगे—उसे न बांधने वाले, 'यज्ञ'-रूप कर्म, 'श्रेष्ठतम कर्म'।

तारक धन

बद्रीप्रसाद पंचोली

अग्निर् धिया स चेतति, केतुर् यज्ञस्य पूर्व्यः । अर्थं ह् य् अस्य तरणि । ऋग्वेद ३.११.३

अग्निः धिया सः चेतति केतुः यज्ञस्य पूर्व्यः । अर्थम् हि अस्य तरणि ।

१) (यज्ञस्य केतुः, पूर्व्यः सः अग्निः धिया चेतति) यज्ञ-प्रज्ञापक, पुरातन, वह अग्रणी धी से जाना जाता है;

२) (हि अस्य अर्थं तरणि) निश्चयपूर्वक इसका धन तारक है ।

जीवन को चलाने के लिए आवश्यक उपकरणों का नाम धन है । धन तारक भी हो सकता है, मारक भी । अग्रणी परमात्मा जिस धन को देता है वह तारक ही होगा, मारक नहीं ।

धन की अभ्यर्थना की जाती है, उसे चाहा जाता है, इसी लिए उसका नाम अर्थ है । परमात्मा से सदैव तारक अर्थ की ही मांग की जाय । उसके पास इसका खज़ाना है । उसने जीवन जी भरकर जीने के लिए दिया है, कष्ट भोगते हुए हाय-हाय करते रहने के लिए नहीं ।

मनुष्य 'चाहों का पुतला' है । हर समय उसके मन में कोई न कोई चाह पैदा होती रहती है । मनुष्य ही क्यों, हर प्राणी चाहों का पुतला होता है । इन चाहों में से कुछ पूरी होती रहती हैं, कुछ अपूर्ण रह जाती हैं । सारी इच्छायें किसी की पूरी नहीं होतीं । इस लिए कहीं न कहीं इन पर रोक लगानी होती है । रोक बाहर से नहीं, भीतर से लगाई जा सकती है । बाहर से डरा कर, धमका कर रोक लगाई गई तो मन विद्रोह कर उठेगा । उसमें कई विकृतियां पैदा हो जाएंगी । रोक भीतर से ही लगे ।

आँख देखने के लिए है । संसार के सौंदर्य को देखो, ख़ूब देखो; पर जो देखो, अच्छा देखो । बुरा मत देखो । कान सुनने के लिए हैं । ख़ूब सुनो; पर जो सुनो, भला सुनो । बुरा मत सुनो । नाक सूंघने के लिए है । ख़ूब सूंघो; पर जो सूंघो वह सुगन्ध हो, दुर्गन्ध नहीं । जीभ स्वाद लेने के लिए है । ख़ूब स्वाद लो; पर सुस्वाद लो । बुरी चीज़ मत खाओ । हाथ काम करने के लिए है । काम करो; पर भलाई के काम करो, बुराई के नहीं । वाणी मिली है । बोलो, ख़ूब बोलो; पर मधुर बोलो । हितकर बोलो । ये सब इन्द्रियां चाहों की पूर्ति के लिए हैं । इनसे धन बटोरो । पर, वह धन तारक हो, मारक नहीं ।

अग्रणी परमात्मा का धन तो तारक ही होता है । उसका चुनाव बुद्धि से करो, विवेक से करो । क्या भला है, क्या बुरा, यह निर्णय बुद्धि करती है । धन की चाह को नहीं रोका जा सकता । धन के आकर्षण को नहीं रोका जा सकता । पर, बुद्धि से चुनाव करके सुधन बटोरा जा सकता है ।

उस परमात्मा को अग्रणी होने से अग्नि कहा जाता है । वह सब यज्ञों का—कर्तव्य कर्मों का प्रज्ञापक है, नियामक है, निर्धारक है । जो काम हम कर रहे हैं वह यज्ञ बने, श्रेष्ठ कर्म बने, इस बात की प्रेरणा उस परमेश्वर से मिलती है । वेद प्रत्येक कर्म को श्रेष्ठ कर्म बनाने की विद्या ही तो है ।

(शेष पृष्ठ १८६ पर)

'वेद-सविता' के नवीन बननेवाले ग्राहकों से

'वेद-सविता' के नवीन ग्राहक बनने और बनाने-वाले सज्जनों से निवेदन है कि वे १) या तो 'वेद-सविता' के वर्ष (अगस्त से जुलाई) के लिए बनें/बनाएं, २) अथ वा अगले जुलाई तक के शेष मासों के लिए एक रु. प्रति-मासाङ्क के हिसाब से राशि भेजें/भिजवाएं । उदाहरणार्थ मार्च से ग्राहक बनने के लिए पांच रु. भेजें न कि बारह ।

यशःज्योति से वाक्-प्राण तक

कोमलभाई 'केश' एम ए

भारती भवन, कौड़िया [आज़मगढ़] २७६ १४१

यशो मा द्यावापृथिवी, यशो मेन्द्रबृहस्पती । यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रति-मुच्यताम् । यशसास्याः सं-सदोहं प्र-वदिता स्याम् । सा ६११

वामदेवः, लिंगोक्ताः, महापंक्तिः ।

यशः मा द्यावा-पृथिवी यशः मा इन्द्र-बृहस्पती । यशः भगस्य विन्दतु यशः मा प्रति-मुच्यताम् । यशसा अस्याः सम्-सदः अहम् प्र-वदिता स्याम् ।

१) (द्यावा-पृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! (मा यशः) मुझे यश, (इन्द्र-बृहस्पती) इन्द्र और बृहस्पति ! (मा यशः) मुझे यश, (भगस्य यशः) भग का यश (विन्दतु) प्राप्त हो ।

२) (यशः) यश (मा प्रति-मुच्यताम्) कभी न छोड़े ।

३) (अस्याः सम्-सदः) इस सं-सद् का (अहम्) मैं (यशसा) यश से युक्त (प्र-वदिता) सु-वक्ता (स्याम्) होऊँ ।

दृष्टि : प्राण का अन्नमय कोश से हिरण्यय कोश की ओर आरोहण एवं हिरण्यय कोश से अन्नमय कोश की ओर अवरोहण मानव-व्यक्तित्व का एक रूप है जिससे प्राण की क्रमशः पराक् एवं अर्वाक् गति जानी जाती है । विकारों का उद्-गिरण (वम से वाम) और निर्विकारिता की दीप्ति से दीपित ज्ञानेन्द्रियों (देवः) का मिश्रित रूप प्राण की गतिमयता को एक दृष्टि देता है और यही दृष्टि इस मन्त्र का कथन है । 'वामदेव' की बुद्धि पृथिवी की रक्षा करती है[1] । इसमें विश्व-मैत्री की दृष्टि है तो ज्योतित ज्योति भी है । इसके साथ ही द्रष्टा की दृष्टि से अन्नमय कोश की रक्षा होती है[2] । इससे जो शान्ति मिलती है वह इसी 'वामदेव' का ही परिणाम होता है[3] । समता का सत्य व्यक्ति के अन्तःकरण में जिस वेद का आलोक देता है उससे एक ज्योति का प्रस्फुटन होता है और इसी ज्योति का नाम 'यशः' है । यह ज्योति व्यक्ति के व्यक्तित्व में 'भर्गः' एवं 'महः' के बाद आती है । 'भर्गः' ज्ञान की ज्योति है, तो 'महः' कर्म की । इन दोनों ज्योतियों का संहित रूप 'यशः' ज्योति में मिलता है ।

विषय : 'यशः' ज्योति के लिए मानव-व्यक्तित्व जिन जिन सरणियों से होकर ऊपर उठता है उन्हीं का कथन लिंगोक्ताः हैं जो इस मंत्र की देवता हैं किन्तु उस प्रभु का देवत्व अभिधार्थ से व्यक्त नहीं हो पाता इसी लिए उसे लिंग (सांकेतिक प्रतीकों) के माध्यम से व्यक्त किया गया है । लिंग वेदान्त का सूक्ष्म शरीर, दृश्यमान स्थूल शरीर के अविनश्वर मूल शरीर के पंचकोशीय रूप का नाम है । अविनश्वर मूल शरीर (आत्मा) का पञ्च कोशों में रमण करते हुए यशःज्योति को पाना और वाक् प्राण की स्थिति में पहुंच कर सम्यक् रूपेण वाक् में ही संस्थित होना इस मंत्र का विषय है ।

भाव : 'यशः' से वाक्-प्राण तक पहुंचने का सिलसिलेवार आरोहण 'पंक्ति' है और इसका अतिमानसिक रूप 'महापंक्ति' है । पच् धातु से व्युत्पन्न होने से पंक्ति उस परिपक्वावस्था का नाम है जहां ब्रह्म की वरणीय मैत्री (मित्रावरुणौ) का लाभ मिलता है । फल के पक जाने पर उसका माधुर्य अवर्णनीय स्थिति पर पहुंचकर जिस आनंद की सृष्टि करता है उसका पहले से ही आभास अत्यन्त गुप्त रूप से मस्तिष्क में रहता है । इसी

१. भुवोऽविता वामदेवस्य धीनाः ।।ऋ.

२. अथर्ववेद १८.४.१५-१६

३. शांतिर्वै वामदेव्यम् ।। तैब्रा. ११.८.२।।

प्रकार 'यश:'ज्योति की उद्दाम लालसा व्यक्तित्व में अपने अव्यक्त रूप से विराजती रहती है जो 'महः' कर्म से व्यक्त होती है। इस यात्रा में, साफल्यप्राप्ति का आह्लाद (छन्द), अपनी परिपक्व स्थिति में, वाक्-प्राण तक लाकर छोड़ देता है जो उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ अखण्ड आनन्द की स्थिति में पहुंच कर 'यश:'ज्योति को प्राप्त करता है।

व्याख्या : १) यशः समत्व-योग का ज्ञान है[4]। इस ज्ञान से उत्तरोत्तर उद्गमन करते हुए यशः को प्राप्त किया जाता है[5]। इससे अखण्डता की ज्योति मिलती है और भेद की अभेद्य दीवार ध्वस्त हो जाती है[6]। जहां अभेद है वहीं साम है। अभेद ज्ञान की चरम सीमा है जहां से प्रकाश की किरण फूटती है। यही किरण यशः की ज्योति को विकसित करती है और अन्तश्चक्षु की व्यापकता को ज्योतित करती है[7]। इस प्रकार से मानव-व्यक्तित्व का द्योतन होता है और वृत्र रूप अन्धकार आत्मा रूप इन्द्र के वज्र से काट दिया जाता है और पांचों—प्राण, श्रोत्र, चक्षु, मन और वाक् की साधना के परिणामस्वरूप जो ज्ञानाग्नि दीप्त होता है उसके प्रकाश में यशःज्योति समता के धरातल पर प्राणों को संस्पर्श करती है तथा प्राणों की संज्ञा भी प्राप्त करती है[8]। यही प्राण आरोहण एवं अवरोहण करते हुए कभी आनन्दमय कोश की सीमा में पहुंच जाते हैं तो कभी क्रमशः अवरोहण करते हुए अन्नमय कोश में पहुंच जाते हैं। ये प्राण की दो गतियां हैं जो अनवरत होती रहती हैं। वैदिक भाषा में क्रमशः ये पराक् एवं अर्वाक् कही गयी हैं। द्युलोक (आनन्दमय कोश) से पृथिवी लोक (अन्नमय कोश) तक जिस यशः-ज्योति की याचना प्रस्तुत मंत्र में की गई है उससे सर्वत्र आनन्द की वर्षा होती है[9] और जगती में यश का इतना प्रसार होता है[10] कि जन जन आत्मद्रष्टा बन जाता है[11] जिसके फलस्वरूप मानव-व्यक्तित्व में आह्लाद-प्रक्रिया[12] का जन्म होता है जिसमें एक ऐसी मस्ती[13] होती है जो आनन्द[14] की सृष्टि करती है।

अब प्रश्न यह है कि व्यक्तित्व की कौन सी ऐसी प्रक्रिया है जो इस स्थिति को प्राप्त करती है? शरीर की इन्द्रियां इन्द्र (आत्मा) की शक्तियां हैं और इन शक्तियों के समुच्चय की इकाई से आत्मा अपना कार्य संचालित करता है। इन्हीं शक्तियों से एक ऐसी वज्र-शक्ति बनती है जिससे वह वृत्र (पाप) का वध करता है। यही वज्र-शक्ति इंद्रियों की शक्तियों की समुच्चय इकाई है। वज्र-शक्ति के प्रयोग के समय जो हुंकृति निकलती है वही बृहती वाक् है। इस बृहती वाक् की एक ऐसी शक्ति भी है जिसे 'बृहस्पति' कहा जाता है[15]। प्रजापति के रेतः-पिण्ड को दग्ध करने वाले अङ्गारों से जो आनन्द-रस प्राप्त होता है वह 'आङ्गिरस' है और उसके पुनः शान्त होने पर जो आरोहण क्रिया होती है उससे प्रोज्ज्वलन होता है। यही प्रोज्ज्वलन की स्थिति बृहस्पति है[16]। इससे प्राण-शक्ति प्रवाहित होती है[17] और ब्रह्म-वीर्य[18] के द्वारा दीप्ति मिलती

---

४. सामवेद वै यशः ॥ शांब्रा. १.५.१५; शब्रा. १२.३.४.९ ॥
५. उद्गातैव यशः ॥ गोब्रा. १.५.१५ ॥
६. आदित्यो यशः ॥ शब्रा. १२.३.४.८; गोब्रा. १.५.१५ ॥
७. चक्षुर्यशः ॥ शब्रा. १२.३.४.१० ॥
८. प्राणा वै यशः ॥ शब्रा. १४.५.२ ५ ॥
९. वर्षा एव यशः ॥ गोब्रा. १.५.१५ ॥
१०. जगत्येव यशः ॥ वही १.५.१५ ॥
११. पशवो यशः ॥ शब्रा. १२.८.३.१ ॥
१२. सोमो वै यशः ॥ तैब्रा. २.२.८.८ ॥
१३. यशो हि सुरा ॥ शब्रा. १७.७.३.१४ ॥
१४. यशो वै हिरण्यम् ॥ ऐब्रा. ७.१८ ॥
१५. वाग् वै बृहती तस्या एव पतिस् तस्माद् बृहस्पतिः ॥ शब्रा. १४.४.१.२२ ॥
१६. ये (प्रजापतेः रेतः पिण्डा दग्धाः सन्तः) ऽङ्गारा आसंस् तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत् ॥ ऐब्रा. ३.३४ ॥
१७. अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं (वातः) पवते ॥ शब्रा. १४.२.२.१० ॥
१८. बृहस्पतिर्वै सर्वं ब्रह्म ॥ गोउब्रा. १.३.४ ॥

है[19]। इसी से दिव्यताओं का निर्माण होता है[20]। जब आत्मा का सम्बन्ध बृहस्पति से जुड़ कर एक हो जाता है तो एक युग्म शब्द बनता है और वह 'इन्द्राबृहस्पती' संज्ञा प्राप्त करता है। इन्द्र और बृहस्पति की समन्वित ऊर्जा से ही यशःज्योति मिलती है। इन्द्र और बृहस्पति की समन्वित ऊर्जा से यज्ञ होता है। यज्ञ 'श्रेष्ठतम कर्म' है। इसी का दूसरा नाम भग है[21]। मंत्रगत इसी भग की यशः-ज्योति के लिए प्रार्थना की गई है जो ईश्वरत्व के अत्यन्त निकट है।

२) यशःज्योति के पीछे एक ऐसा विकट आवरण होता है जो उसे धूमिल बना देता है। उस आवरण का नाम अयश है। मानव-व्यक्तित्व में यशः भद्र है तो अयश अभद्र। यह अयश क्षण-भर में सारे प्रकाश को अन्धकार में बदल देता है। अतः साधक को निरन्तर सावधान रहने की आवश्यकता होती है। उसे यशःज्योति के लिए साम की साधना अपेक्षित है।

३) मानव-व्यक्तित्व में संस्थित आठ काष्ठायें सं-सद् कहलाती हैं। इनमें प्रथम सात काष्ठायें मानसिक स्तर की हैं और एक काष्ठा जिसे महत् बुद्धि कहा जाता है अतिमानसिक स्तर की है। शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, मन एवं अहंबुद्धि तक मानव बहुत कुछ जगत् के स्थूल तत्त्वों के रूप में व्यक्त होता है और 'व्यक्ति' संज्ञा प्राप्त करता है। अहंबुद्धि का अहंकार उसे जीवात्मा की श्रेणी में छोड़ देता है किन्तु इसका महत् बुद्धि तत्त्व सूक्ष्म हो कर नवीं काष्ठा प्र-नव (प्रणव) की सूक्ष्मतम स्थिति में पहुंचने का प्रयास करता है। साधना की चरम सीमा पार करने के पश्चात् महत् बुद्धि (आत्मा) नवीं काष्ठा (परमात्मा) के प्रकाश में मिल जाती है। यहीं आनन्दातिरेक के कारण वाणी का जो प्रस्फुटन होता है, वाक्-प्राण कहा जाता है। यह वाक्-प्राण जब यशःज्योति से युक्त होता है तब मानव का व्यक्तित्व निखर उठता है और आत्मा की आवाज़ (अनाहत नाद) को सुनता हुआ साधक निरन्तर आनन्द में मग्न रहता है।

१९. द्युम्नं हि बृहस्पतिः ॥ शब्रा. ३.१.४.१९ ॥
२०. बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा ॥ शब्रा. १.७.४.२१ ॥
२१. यज्ञो भगः ॥ शब्रा ६.३.१.१९ ॥

नवीन 'प्रशस्त' होता


श्री विश्वविभूति 'विदेह'

श्री विश्वविभूति 'विदेह' ने वेद-संस्थान, अजमेर को रु १,०००/- की सात्त्विक भेंट द्वारा संस्थान का 'प्रशस्त' होता (आजीवन सदस्य) बनना अंगीकार किया है। संस्थान के सदस्य-मण्डल में उनका स्वागत और अभिनन्दन है।

अपने शैशव काल से ही श्री विश्वविभूति 'विदेह' की संस्थान के संस्थापक-अध्यक्ष, सन्तप्रवर श्री स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' के प्रति अद्वितीय श्रद्धा रही है। यह आपके 'विदेह' उपनाम से और आपकी प्रकाशन-संस्था, 'विदेह पब्लिकेशन्स्' के नाम से भी संकेतित है। स्वामी जी की आत्मकथा, 'विदेह-गाथा' के प्रकाशन के लिए आपने रु ५,०००/- की सात्त्विक सहायता प्रदान की थी। संस्थान के साप्ताहिक सत्संग, 'वेदामृत' में आप नियम से पधारते हैं और उसकी यज्ञ-व्यवस्था संभालते हैं। वेद और यज्ञ में आपकी गहन आस्था है। आपका जीवन निर्व्यसन, विनम्र और नियमित है।

वेद-संस्थान को आपके अधिकाधिक सहयोग की एवं आपके प्रखर, विचक्षण, व्यावहारिक बुद्धिकौशल के लाभ की सतत आशा है। समय आने पर आप संस्थान को आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाने का बीड़ा उठाएंगे, यह विश्वास है।

—**अभयदेव**, अध्यक्ष

महापुरुष की पहचान

[वेद-संस्थान, नई दिल्ली के एक मासिक सत्संग में हुआ अभयदेव (संस्थानाध्यक्ष) का वेदप्रवचन।—सम्पादक]

जुहुरे वि चितयन्तो, निमिषं नृम्णं पान्ति। आ दृढां पुरं विविशुः।* ऋग्वेद ५.१९.२

पवित्रात्माओ! मान्या माताओ! महानुभावो! आज का यह मन्त्र पूज्यपाद स्वामी[1] जी के चरणों में श्रद्धांजलि के रूप में है। इस मन्त्र का उल्लेख 'जीवन-ज्योतियां' नामक पुस्तक में गोपीचन्द्र की कथा के प्रसंग से है। मुझे याद नहीं पड़ता कि इसके अलावा कहीं उन्होंने इसकी व्याख्या की हो। जैसा मैंने एक बार पहले निवेदन किया था कि जो अतिमार्मिक और अतिप्रिय विषय होता है वह कभी कभी दूसरे से चर्चा का विषय नहीं बनता। यह वैसा ही मन्त्र है। **यद् अग्ने! स्याम् अहं** की व्याख्या स्वामी जी ने नहीं की; यह बात पहले भी एक बार मैंने कही थी। यह मन्त्र भी उसी तरह का है।

इस मन्त्र में यह बताया है कि महापुरुष कौन होता है। महापुरुष की पहचान क्या है? हाड़-मांस का शरीर तो उसका भी वैसा ही होता है जैसा आपका, हमारा है। फिर अन्तर क्या है? क्या, किसी उच्च कुल में उत्पन्न होने के कारण, जो अवसर प्राप्त हो जाता है यश पाने का, जो साधन मिल जाते हैं कुछ बड़ा काम करके दिखाने के, क्या इससे महापुरुषता सिद्ध होती है? कोई किसी राजा का पुत्र हुआ। पिता का आज्ञाकारी भी था। और क्या इसलिए ये महापुरुष हो गए, और राम के नाम से हम उनको पूजते हैं? ऐसे आज्ञाकारी तो सामान्य प्रजा में भी मिल जाएंगे। क्या वे महापुरुष नहीं हैं? फिर महापुरुषता की कसौटी हम कहां पर मानें, किनको मानें? शील को मानें, कर्म को मानें—किसे मानें? जिसको अवसर नहीं मिला महान् कार्य करके दिखाने का, जिसमें विद्यमान शक्ति एक विराट् रूप नहीं ले पाई और इसलिए जिसको दुनिया ने नहीं जाना, क्या वह महापुरुष नहीं है; इतिहास के पन्नों में उसका नाम भले ही न हो? महापुरुष कौन है? तो मन्त्र यह नहीं कहता कि कोई उच्च कुल का होना चाहिए, दुनिया में उसका नाम होना चाहिए, इतिहास के पन्नों में कहीं उसका उल्लेख होना चाहिए, कवि कालिदास जैसे उसके यश को गाने के लिए बेताब हो रहे हैं हों—यह कुछ नहीं। मन्त्र बड़ा सीधा सा है और बड़ी सीधी सटीक बात उसने कही है।

इस मन्त्र में तीन वाक्य हैं। पहला वाक्य है—**जुहुरे वि चितयन्तः।** 'जुहुरे' का अर्थ है 'पुकारा'। 'हु' धातु है इसमें—पुकारने के अर्थ में। यह वही धातु है जिससे 'होता' शब्द बना है। ऋग्वेद के पहले मन्त्र में यह 'होता' शब्द आता है, **अग्निम् ईडे पुरोहितं, यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।** पुकारनेवाला—जब भी कोई आएगा—एक व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जो जनसम्पर्क करे और लोगों को पुकार पुकार करके, बुला बुला करके इकट्ठा करे। एक पुकार लगानेवाला होना चाहिए। 'जुहुरे'—पुकार लगाई थी, पुकारा था—भूतकाल है। 'वि'—'वि' का अर्थ है विविध प्रकार से, विशेष रूप से। एक तरह से कहने से समझ नहीं आया, दूसरी तरह से समझाया - लेकिन पुकारेगा बार बार, और जो बात कहनी है उसे

---

* [अग्ने!] [जिन] (चितयन्तः) चेतनावानों ने [तुझे] (वि जुहुरे) विशेष रूप से पुकारा [तेरा विह्वान किया था] [वे तो] (नृम्णम्) नरत्व को (अ+नि-मिषम्) अ-पलक (पान्ति) बचा रहे हैं [क्यों कि] (दृढ्हां पुरम्) दृढ पुर् में (आ·विविशुः) वे आ-विष्ट हो चुके थे।

१ स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' [संस्थान-संस्थापक]

घट बैठाने का प्रयत्न करेगा। **वि जुहुरे**[२]—अनेक प्रकार से पुकारा। परिवार में माता पिता यही करते हैं न। बच्चे को समझाते हैं। नहीं मानता, थोड़ा सा कड़ी निगाह से उसको देखते हैं, कड़ी आवाज़ से उसको डराते हैं। फिर नहीं मानता तो प्रलोभन देते हैं--'तुझे इनाम देंगे।' फिर नहीं मानता—ऊंच नीच समझाते हैं, 'भले आदमी! कुछ ख़ुद का तो ख्याल कर, हमारे नाम की तो लाज रख। क्या तुझे ऐसा करना अच्छा लगता है, यह तो सोच', इस तरह से समझाते हैं। अनेक प्रकार से समझाते हैं। यह पुकारना ही तो है। **वि जुहुरे**—अनेक प्रकार से पुकारते हैं। कौन पुकारते हैं? **चितयन्तः**—चेतनावाले, जो होशो-हवास में हैं वे।

पुकारना दो तरह का है। एक तो नासमझी का पुकारना है और एक समझ-बूझकर पुकारना है। जब ठोकर लगती है, कष्ट आता है, आपत्ति आती है तब फिर भगवान् को मत्था टेकते फिरते हैं, मन्दिर में जाते हैं, इधर जाते हैं उधर जाते हैं, सोचते हैं, 'शायद कहीं कोई भगवान् हो तो हमारी ये पूजा वहां तक चली जाए। है या नहीं, यह तो हम नहीं जानते। अगर है तो चलो मान लो, हमारा क्या बिगड़ता है।' यह तो नासमझी का प्रणाम है। और एक प्रणाम है समझ-बूझ करके। तो एक पुकार तो होती है बे-सोचे-समझे की। आपने मुझे कोई परामर्श दिया। मुझे जंच तो नहीं रहा। लेकिन मैं सोचता हूं, आप बुज़ुर्ग हैं, ज़माना आपने देखा है, अनुभवी हैं। इसलिए कुछ ठीक ही कहते होंगे। चलिए, मान लेते हैं। यह तो मानने के लिए मानना है। ऐसा मानना तो मिथ्याचार है।

मान लीजिए कि कोई ईश्वर है। चलिए, मान लेते हैं। अब आगे करिए तर्क। ईश्वर को मानने से क्या फ़ायदा? और अगर कहें, ईश्वर नहीं है तो, चलिए, इससे क्या नुक़सान? किए जाइए तर्क और पहुंचिए किसी सत्य पर। तो सत्य को पाने के लिए हम कुछ कल्पना करते हैं; कि इतना बड़ा संसार है; आख़िर किसी ने बनाया तो होगा! यह घड़ी हमारे सामने है। उसमें हज़ार कल-पुर्ज़े हैं। यदि किसी ने नहीं जोड़ा तो कैसे जुड़ गए; कोई जोड़ने-वाला तो होना चाहिए! चलिए, एक तर्क है, अपने स्थान पर है। और आगे चलें। तो यह सब तर्क इसलिए कि हमें सत्य पर पहुंचना है। हमारा यह वर्तमान जीवन है--यह चेतना का जीवन नहीं है, यह तो कल्पनाओं का जीवन है। हम समझ नहीं सकते कि सत्य कोई अच्छी चीज़ होती होगी, पुण्य होता होगा। और क्यों कि हमने सिर्फ़ माना हुआ है, उसको समझा नहीं है, घट में नहीं बिठाया हुआ है इसलिए अवसर आता है तब कहते हैं, 'भैय्या! झूठ बोले बिना काम नहीं चलता। व्यापार करना है, धन्धा करना है; झूठ तो बोलना ही पड़ेगा।' अब हमारा जीवन बंट गया दो हिस्सों में! शास्त्र कहता है, 'सच बोलो'; यथार्थ कहता है, 'सत्य से काम नहीं चलेगा।'

हमारे सारे भारतीय जीवन में यह नासूर आया है। शंकराचार्य ने यह कहा कि व्यवहार की दृष्टि से, ठीक है, संसार है लेकिन वस्तुतः तो संसार नहीं है। दो तरह की भाषा बोलनी पड़ी, 'है' भी और 'नहीं' भी। जैनियों ने इसे एक सिद्धांत बना दिया--स्याद्वाद। 'स्यात्' का अर्थ है 'शायद'। आप कुछ कहते हैं, मैं दूसरी बात कहता हूं। जैनी कहेगा कि ठीक है; आपकी बात भी ठीक हो सकती है, मेरी भी ठीक हो सकती है। यह भी सच है, यह भी सच—न आप ग़लत, न मैं ग़लत। यह जो सारी भाषा है यह कल्पना की भाषा है, मानी हुई भाषा है।

तो मन्त्र कहता है, ऐसे नहीं। **चितयन्तः**—चेतनापूर्वक, समझ-बूझ करके, जान-बूझ करके। अन्दर से मन कुछ कहता हो और वाणी कुछ दूसरा बोलती हो, ऐसी पुकार नहीं। जो अन्दर है वही ज़ुबान पर आए, वह पुकार है। तो **जुहुरे वि चितयन्तः**। 'चितयन्तः'—जो समझ रहे हैं, तत्त्व को जान रहे हैं उन्होंने अनेक प्रकार से पुकारा है। सृष्टि के आदि से लेकर आज तक अनेक महात्मा

२ हिन्दी में 'आ-ह्वान' शब्द है। मंत्र में 'वि-ह्वान' शब्द सुझाया गया है। —सम्पादक

आते रहे, सन्त पुरुष आते रहे, ऋषि आते रहे, योगी आते रहे और पुकारते रहे, बार बार पुकारते रहे। कुछ ने सुनी वह आवाज़। जिन्होंने सुनी उन्होंने लाभ उठाया। जिन्होंने नहीं सुनी उनसे कोई शिकायत नहीं—'न सुनो। अभी वह स्टेज नहीं आया मालूम होता कि अभी सुन पाएं। अगले जन्म में आएगा, उससे आगे आएगा।' अनंत जीवन पड़े हैं। इस जीवन में यदि सत्य घट नहीं बैठता है—एक कान से सुनते हैं और दूसरे से निकल जाता है—कोई बात नहीं। अगले जीवन में कभी सुनिएगा क्यों कि जीवन में मनुष्य यथार्थ को तभी पकड़ता है जब उसको ठोकर लगती है। अपने ही अनुभव से मनुष्य सीखता है। दूसरे के अनुभव से कभी किसी ने आज तक नहीं सीखा। इसलिए जो चेतनावाले हैं उनका काम तो पुकार लगाने का है। सूर्य प्रात:काल आकर खड़ा हो जाता है पूर्व दिशा में। जिसे उठना है उठ जाएगा, सोना है सोता रहेगा। सूर्य, जो सो रहा है उससे, नाराज़ नहीं होता और जो जाग रहा है उसको भी कोई शाबाशी नहीं देता। बस, प्रकट हो गया है। वह अपना काम किए जा रहा है। 'चितयन्त:'—अगर चेतना है तो जो समझदारी मिली है वह अपने आप बिखरती रहेगी। उसके लिए प्रयास भी करने की ज़रूरत नहीं है। वह तो अपने आप फूटेगा। कुछ न बोलेंगे तो मौन मुद्रा ही बोल देगी—आचरण बोल देगा, उठना-बैठना बोल देगा। 'गीता' में पंक्ति आती है—अर्जुन ने पूछा, योगी होते कैसे हैं, **स्थितप्रज्ञस्य का भाषा···किम् आसीत व्रजेत किम् ?** बैठता कैसे है? चलता कैसे है? खाता क्या है? उनका जीवन कैसा होता है? ऊपर से तो वैसे ही खाता, बोलता है, सब काम करता है जैसे आप और हम करते हैं। लेकिन उसके जीवन में कोई चीज़ होती है, कोई नूर होता है जो अपने आप चमकता है। इसलिए कहा, **जुहुरे वि चितयन्त:,** जो चेतनावान् हैं वे अनेक प्रकार से पुकार लगाया करते हैं। अपनी वाणी से लगाते हैं, लेखनी से लगाते हैं, अपने जीवन से लगाते हैं—पुकार लगाते हैं।

और दूसरा काम क्या होता है? **आ दृढां पुरं विविशुः।** वे लोग **आ विविशुः,** घुस करके बैठे हुए होते हैं। 'विश्' धातु का अर्थ है 'घुस जाना'। हिन्दी में शब्द है 'प्रवेश' करना। यहां 'प्र' की जगह 'आ' है; 'आवेश' करना। 'आ विविशुः', उन्होंने प्रवेश कर लिया है, घुसकर बैठ गए हैं। कहां? **दृढां पुरं,** एक बड़ा मज़बूत पुर् है, नगर है। या यों कहें, एक मज़बूत क़िले के अन्दर छिप करके वे बैठ गए हैं। दुश्मन हमला करता है—पुराने ज़माने में क़िले हुआ करते थे। बड़े बड़े फाटक बंद कर दिए, खाई में पानी भर दिया चारों तरफ़, और पूरी निगरानी—दुश्मन कहीं अन्दर न आ जाए। अब घिरा हुआ है उसमें—एक महीना, दो महीना, दस महीने, बीस महीने—दुश्मन भी नहीं हटता, और क़िले के बाहर भी नहीं जाते। और जब रसद ख़त्म हो जाएगी तब बाहर निकलना पड़ेगा और तब घमासान युद्ध होगा। राजपूतों के युद्ध इसी तरह के हुआ करते थे। और जो पुराने क़िले हैं उनकी आप आर्किटेक्चर देखिए। चारों तरफ़ खाई ज़रूर होगी, क़ाफ़ी चौड़ी। पानी उसमें भरा हुआ। और जो क़िले की दीवारें हैं उसमें छोटे छोटे झरोखे से बने हुए हैं जिनमें से निगरानी रखी जाया करती थी। **दृढां पुरं विविशुः,** ये भी एक दृढ़ पुर् के अन्दर, एक मज़बूत क़िले के अन्दर घुस कर बैठे रहा करते थे। यही एक काम है। **आ विविशुः**—घुस करके बैठ गए थे। पुर् में रहनेवाले को कहते हैं 'पुरुष'—पुरि शेते इति पुरुषः—जो पुर् में रहे। यह हमारा शरीर है—यह एक पुर् है। इस नगर में झरोखे लगे हुए हैं आंख, कान, आदि। यह जो हमारा शरीर है सारे का सारा पोरस है। छोटे छोटे छेद हैं। हर छेद के अन्दर बाल हैं, रोए हैं। इनमें से पसीना, आदि बाहर निकलता रहता है। तो यह जो सारा हमारा शरीर है, यह पुर् है, नगरी है। इस पुर् के अन्दर और भी पुर् हैं। प्राचीन जो वास्तुकला है उसके अनुसार भी चार दल्लान होने के बाद राजा का महल बीच में आता है। उनको 'आस्थान-मण्डप' कहते हैं। एक दीवार दुश्मन ने पार कर दी—कोई बात नहीं। अब अगली दीवार है, वहां रोकेंगे।

क्रमशः

वैदिक स्वाध्याय के केन्द्र

सोमचैतन्य श्रीवास्तव, एम ए, एम ओ एल
श्री अरविन्द-निकेतन, पुजारीपुट स्ट्रीट, कोरापुट

[श्री सोमचैतन्य श्रीवास्तव के उक्त शीर्षक से 'वेद-सविता' के नवम्बर, '८३-अंक में प्रकाशित लेख की प्रतिक्रिया में अनेक पत्र लेखक को प्राप्त हुए हैं। कुछ व्यक्तियों में ऐसे केन्द्र आरंभ करने का उत्साह जागा है; यह शुभ संकेत है। आरंभिक तैयारी के लिए अनेक सुझाव प्राप्त हुए हैं। नीचे की टिप्पणी इस सब पृष्ठभूमि में श्रीवास्तव जी ने लिखी है। इसी विषय पर इनके एक पत्र का अंश 'वेद-सविता' के इसी अंक में आगे 'प्रतिक्रिया' स्तंभ में मुद्रित है। पाठक उसे भी पढ़ें। —सम्पादक]

नवम्बर, '८३ के 'वेद-सविता'-अंक में प्रकाशित, 'वैदिक स्वाध्याय के केन्द्र' की योजना पर किसी भी संस्था या लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् की अब तक कोई प्रतिक्रिया या सहयोग का वचन नहीं मिला है। व्यक्तिगत रूप से मुझे जिन वेदप्रेमी जनों के सहयोग का आश्वासन मिला है वे हैं, दिल्ली के श्री सूर्यप्रकाश अग्रवाल तथा नागपुर के श्री सोहनलाल अग्रवाल। नई दिल्ली की श्री सुशीला राजपाल ने अपनी तरफ़ से काफ़ी प्रयत्न किया कि नई दिल्ली की कोई आर्यसमाज ऐसे केन्द्र की स्थापना की योजना को स्वीकार कर ले। परन्तु उन्हें जवाब मिला कि 'इस बुढ़ापे में ऐसे कार्य उनसे नहीं हो सकते। जैसे तैसे वे आर्यसमाज को चला रहे हैं। यही बहुत है।' 'धन, जनसहयोग एवं वेदाध्यापन के समर्थ विद्वानों के अभाव में ऐसी योजना नहीं चल सकती, इस प्रकार की प्रतिध्वनि लिए हुए आलोचनात्मक प्रतिक्रिया का पत्र मिला है श्री शीलस्वरूप शर्मा का।

दयानन्द, वेद और आर्यसमाज के नाम पर चलने वाली किसी भी संस्था ने प्रत्येक परिवार में 'नित्य वेद का स्वाध्याय' की परम्परा को चालू करने के लिए, जन-सामान्य को वेद पढ़ाने के लिए कोई भी कार्यक्रम न तो अब तक चलाया है और न चलाने या सहयोग देने के लिए तैयार है, इसी लिए 'वैदिक स्वाध्याय के केन्द्रों' की स्थापना की योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। 'वैदिक स्वाध्याय' की परम्परा को सुरक्षित रखने का विशेष दायित्व आर्य जाति पर ही है क्यों कि उनकी सम्पूर्ण संस्कृति वैदिक ज्ञान पर स्थित है। आर्य जाति की अस्मिता, संस्कृति, प्रतिष्ठा एवं स्वाभिमान को सुरक्षित रखने का प्रश्न है। उसमें एक दो व्यक्तियों के मिशनरी रूप से आगे आने का नहीं, परन्तु प्रत्येक आर्य के, मिशनरी रूप से यथासामर्थ्य सहयोग देने का प्रश्न है। राम के सेतुबन्ध के कार्य में गिलहरी भी अपने गीले शरीर में बालू लपेटकर बालू पहुंचाकर सहयोग दे रही थी। राम ने उसके स्वेच्छा तथा उत्साह के साथ दिए गए सहयोग-कर्म की भरपूर प्रशंसा की थी। मेरा भी यही प्रश्न है प्रत्येक वेदप्रेमी आर्य से कि 'घरों में नित्य वैदिक स्वाध्याय की परम्परा को पुनः

(शेष पृष्ठ १८७ पर)

वेद-संस्थान की वर्षगांठ

अन्तर्यामी की कृपा से वसन्त-पञ्चमी, ७ फ़रवरी, १९८४ को आपका वेद-संस्थान ३७वें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। संस्थापक, श्री स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' ने वेद, संस्कृत, राष्ट्र, विश्व को यह संस्थान समर्पित किया था। अपने लक्ष्यों की ओर मन्थर पर सतत गति से चल रहे संस्थान को आपका आशीः, परामर्श, सहयोग वृद्धिगत होता रहे, यह निवेदन है। —**अभयदेव**, अध्यक्ष

आश्रम [२]

रामाश्रय शर्मा, एम ए, पीएच डी
१३ यू बी, जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००६

[वेद-संस्थान, नई दिल्ली के एक साधना-शिविर में **धर्मशास्त्र : एक परिचय** प्रवचनमाला का ९ जुलाई, १९८० को हुआ द्वितीय प्रवचन । —सम्पादक]

४. गृहस्थ-आश्रम के बाद वानप्रस्थ-आश्रम आता है । वानप्रस्थ-आश्रम और गृहस्थ-आश्रम के बीच की जो सीमारेखा है इसके बारे में एक जो सिद्धांत का निर्धारण धर्मशास्त्रकारों ने किया है वह याद रखने और ध्यान देने योग्य है । वानप्रस्थ-आश्रम गृहस्थ-आश्रम के बाद आता है, यह बात सही है । अभी मैंने आपसे यह भी कहा कि समस्त जीवन को चार हिस्सों में बांट दिया गया । प्रायः विभिन्न धर्म-सूत्रकार और स्मृतिकार ऐसा कहते हैं कि जीवन सौ वर्ष का है । संस्कृत में, शास्त्रों में कहा गया है—वेद के समय से ही—शतायुर् वै पुरुषः । मनुष्य की सामान्य आयु का जो परिमाण कहा गया है वह है सौ वर्ष । इस दृष्टि से चार खण्ड उसके किए गए । तो इनका एक एक का जो आयु की दृष्टि से परिमाण हुआ या समय की दृष्टि से निर्धारण हुआ वह २५ वर्ष का हुआ सामान्य रूप से ।

सामान्य रूप से २५ वर्ष तक मनुष्य ब्रह्मचर्य-आश्रम का पालन करे, सामान्य रूप से उसके बाद और २५ वर्ष तक गृहस्थ-आश्रम का पालन करे, उसके बाद और २५ वर्ष तक वानप्रस्थ-आश्रम का पालन करे और उसके बाद शेष आयु जो है वह संन्यास-आश्रम के लिए है । लेकिन यह एक सामान्य निर्देश है । केवल ५० वर्ष का हो जाने से कोई व्यक्ति गृहस्थ का परित्याग करने का अधिकारी नहीं बनता । इसके बारे में और विस्तार से क्रमशः जब प्रत्येक आश्रम की हम चर्चा करेंगे तब मैं आपके सामने उल्लेख करूंगा । लेकिन दो बातों को यहीं पर कह देना चाहता हूं । गृहस्थ-आश्रम, आप जानते हैं, समाज में, विवाह करने के बाद शुरू होता है । गृहस्थ-आश्रम में जो व्यक्ति प्रवेश करता है वह परिवार को जन्म देता है । परिवार जब आपकी इच्छा से, इस प्रकार, जन्म प्राप्त करता है तो उसका उत्तरदायित्व, उसके भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी, यह आपके ऊपर है । इसलिए जब तक उस परिवार की व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक उस गृहस्थ-आश्रम को छोड़ने का आपको अधिकार नहीं है । यह बात आप ध्यान देंगे । प्रायः जब हम अध्यात्म के क्षेत्र में जाते हैं तो इस बात को भुला दिया जाता है । अध्यात्म के क्षेत्र में मनुष्य आत्मा का उत्कर्ष करता है । लेकिन आत्मा का उत्कर्ष करने का यह अभिप्राय बिलकुल नहीं है—कम से कम हमारे शास्त्रकारों ने इसे बिलकुल स्वीकार नहीं किया—कि मनुष्य अपने जो कर्तव्य हैं, उचित कर्तव्य हैं उनके प्रति उपेक्षा करे, उनके प्रति उदासीन हो जाए या एकदम उनके प्रति अपनी आखें बन्द कर ले ।

गृहस्थ-आश्रम को छोड़ने के लिए और वानप्रस्थ में प्रवेश करने के लिए पहली शर्त है पुत्र का पुत्र जब हो जाए तब व्यक्ति गृहस्थ-आश्रम का परित्याग कर सकता है । यह बात, आप सभी बुज़ुर्ग लोग हैं, आसानी से पहचान सकते हैं । पुत्र का पुत्र होने का मतलब यह है कि पुत्र अब स्वयं इतना जवान हो गया है कि वह अब इस परिवार की ज़िम्मेदारी को अपने कन्धों पर ले सकता है । जब हमारे पीछे इस परिवार की ज़िम्मेदारी को लेनेवाला एक सामर्थ्यवान् व्यक्ति विद्यमान है तभी हमें गृहस्थ-आश्रम को छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रम में जाने का अधिकार है अन्यथा नहीं ।

५. लेकिन एक इसी तरह की और दूसरी कड़ी शर्त और भी विद्यमान है । गृहस्थ-आश्रम को छोड़कर जब हम वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करते हैं तब वानप्रस्थ-आश्रम एक कड़ी है गृहस्थ और संन्यास के बीच की ।

जीवन में दो मार्ग सदा से चलते चले आए हैं । हमारे यहां इनको कहा जाता है प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग । यह संसार है । इस संसार में संसारी प्राणी, सांसारिक प्राणी की तरह व्यवहार करना, यह प्रवृत्ति-मार्ग है । और संसार के बन्धनों को छोड़ना, उनको त्यागना, इसका नाम है निवृत्ति-मार्ग । **संन्यास** इसी से बना है । **सम्**-पूर्वक **न्यास** का मतलब होता है त्याग देना । संन्यास, 'छोड़ दिया', Path of action or path of renunciation, कर्म का मार्ग और संन्यास का मार्ग या त्याग का मार्ग जिसे हमने कल मोक्ष के रूप में **परम पुरुषार्थ** कहा था वह प्रवृत्ति से प्राप्त नहीं होता । उसके लिए संन्यास की आवश्यकता है । सांसारिक मोह, बन्धन को छोड़ना ज़रूरी है । इसलिए संन्यास-आश्रम में मोक्ष की साधना होगी । किन्तु जीवन-भर जिस प्रवृत्ति के मार्ग पर हम चलते रहे उसको सहसा एक क्षण में छोड़कर इस निवृत्ति के मार्ग पर चल देना न तो सबके लिए सम्भव है और न ही यह कदा चित् उचित प्रतीत होता है । क्यों उचित नहीं प्रतीत होता है इसका और विस्तार के साथ मैं स्पष्टीकरण आपके समक्ष करूंगा । इसलिए गृहस्थ और संन्यास के बीच में, अर्थात्, प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच में एक संक्रमण की स्थिति, एक संक्रान्ति की स्थिति, एक 'ट्रांज़ीशन' की व्यवस्था की गई वानप्रस्थ के रूप में । इसलिए वानप्रस्थ पर एक और शर्त लगा दी गई कि वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करने का वही व्यक्ति अधिकारी है जिसने चारित्रिक दृष्टि से अपने आपको उसके योग्य बना लिया है ।

६. दो कथाएं मुझे स्मरण आती हैं । अवश्य ही आप लोगों ने सुन रखी होंगी । एक तो यह बार बार कथा आती है नचिकेता की । नचिकेता की कथा में—आपको याद होगा—नचिकेता के पिता थे । उन्होंने एक यज्ञ किया । उस यज्ञ का नाम था **सर्ववेदस्** यज्ञ । वैदिक भाषा में **वेदस्** धन को कहते हैं । सर्ववेदस् यज्ञ का मतलब, आज की सरल बोली में हम कहें तो, सर्वस्वत्याग, जिसमें अपनी समस्त सम्पत्ति का परित्याग कर देना है । नचिकेता के पिता ने इस यज्ञ को किया । जब त्याग करने का यानि यज्ञ की समाप्ति पर दक्षिणा देने का अवसर आया तो उन्होंने ऐसी गाएं दक्षिणा में दे दीं जिनका कोई उपयोग नहीं था । **पीतोदका जग्ध-तृणा दुग्ध-दोहा निरिन्द्रियाः । पीतोदकाः**, जिन्होंने आख़िरी बार पानी पी लिया था, मतलब, इतनी निकम्मी और बूढ़ी हो गई थीं कि अब बेचारी दोबारा पानी पीने के योग्य भी नहीं थीं—**पीतोदकाः । जग्ध-तृणाः**, इसी तरह से आख़िरी बार जो घास खा चुकी थीं, अब जिनमें खाने पीने की भी सामर्थ्य नहीं थी । **निरिन्द्रियाः**, जिनकी तमाम शक्तियां क्षीण हो गई थीं । न दूध दे सकती थीं । इस तरह की जो गाएं थीं वे उन्होंने दक्षिणा में दे दीं । ये, बालक नचिकेता, देख रहा था । यद्यपि वह बालक था लेकिन उसने इस बात को पहचान लिया कि पिता सर्ववेदस् यज्ञ कर रहे हैं लेकिन सम्पत्ति के प्रति मोह तो उनका बना हुआ है । वे तो धर्म के क्षेत्र में, एक तरह से, प्रवञ्चना का आश्रय ले रहे हैं । जहां समस्त सम्पत्ति का त्याग होना चाहिए वहां पर वे ऐसी चीज़ों का त्याग करके यज्ञ को एक भुलावा देने की कोशिश कर रहे हैं जिनका वस्तुतः उनके लिए निज का कोई उपयोग नहीं ।

छोटा होने पर भी उसने अपने पिता को संकेत रूप में समझाने की कोशिश की, **कस्मै मां दास्यति ।** जब सर्वस्व त्याग करना है तो पति-पुत्र, पत्नी-पुत्र, आदि ये भी त्यागे जानेवाले हैं । तो, **कस्मै मां दास्यति**, आप मुझे किसे देनेवाले हैं ? मतलब—इशारा यह था कि इसमें तो मेरा भी त्याग होना है और आप तो गाएं भी नहीं छोड़ रहे हैं । आगे की कथा आप जानते ही हैं । वे नाराज़ हो गए और उन्होंने कहा, **मृत्यवे त्वां ददामि**, मैं तुम्हें यमराज को देता हूं । नाराज़ हो गए ।

VEDA-SAVITA
English Section : Vol 3, No 1, February, 1984

Vikara-vimana-vijnana : The Cosmic-Challenge of Man [2]

Prof. Dr. Winfried PETRI
Postfach 106, Unterleiten 2, D-8162 SCHLIERSEE (West Germany)

It was inevitable that the mentioning of *vimanas* in Sanskrit literature gave rise to peculiar speculations about airplanes and skyrockets in the days of yore. Another European author Erich von Daniken cites from the *Mahabharata* and the *Puranas* to testify his presumption of "Ancient Astronauts"; and in India already in 1918 a special *Vimanikasastra* having seen a 'light' with its 'claim' that aviation and perhaps even space-flight were extent in India long ago, in the days of the legendary *Bharadvaja*. Indeed, there has always been speculation on *vimanas* in India. Surely, the desire of reaching the stars is as old as mankind.

Whereas in the epic Sanskrit literature *vimanas* mostly means something like an airgoing vehicle, in latter parts of popular religious literature (the Buddhist *Avadana*, e.g.) *vimanas* are lovely places in remote parts of the world, heavenly paradises for gods and possibly human beings in an exalted state of merit. From such speculations the way is not far to modern discussions on the existence of extra-terrestrial forms of intelligent life which might even have attained a level of evolution far superior to that here on earth.

PROBLEMS OF OUR TIME

3.1 Communication with Extra-Terrestrial Intelligences ? : This is one of the problems of our present time. After great, unprecedented achievements in science and technology, we see the future of mankind definitely less hopefully than Alexander von Humboldt on Friedrich Engels did in the 19th Century. Although a score of astronauts have since stepped on the moon and interplanetary probes pass the outer planets, we are, for any foreseeable future, physically confined to our solar system and may not expect to go far to other stars and come back during the lifespan set by Nature. On the other hand, visits by extra-terrestrial beings do not seem quite impossible in principle, but there probability is—in spite of Erich von Daniken and his 'allegements'—virtually nil. The only realistic chance to detect and even contact aliens may be by means of radio-astronomy and other advanced communication-techniques in the future. This chance may be very slim indeed; but who knows ? Let us wait and see.

3.2 A New Geocentrism : Better than before the advent of astronautics and radioastro-

nomy, we have learnt that the only celestial body where man can exist without an enormous, and at this time still unfeasible, expenditure of technical means, is the earth. This gives rise to a new kind of geocentrism and, of course, anthropocentrism. So we are confronted with the fact that man has to economise his home-planet in the long run, making a beginning right now. The 'limits of growth' proclaimed by the Club-of-Rome people are an earnest warning against any abuse of natural resources and unlimited increase of population. What we need is a sober assessment of our present situation and some deep-going know-how to control our future. What we need, is austerity and peace—in one word : vijnana.

LEGACY OF INDIA

4.1 Weizsacker and Realism : Here we can name Carl Friedrich von Weizsacker, a German physicist, who found a famous cycle of nuclear enegry production in the interior of stars and who gave an impressing theory of the genesis of the solar system, based upon the cosmogonic hypothesis of Immanuel Kant and his own and Werner Heisenberg's new theory of turbulent motion. But after a brilliant career in astrophysics, von Weizsacker turned to philosophy and peace-re-search. Although an open confessor of the Chiristian faith, he became deeply interested in Indian spirituality, too. But that is another story.

What impressed me most as a remarkable example of *vijnana*, in the narrower sense of "discerning", is a statement by von Weizsacker in a paper on "the art of prognostication". I give here my literary translation : "As a physicist I would say that the physics of our days implies the distinction of three basic entities which might be called Matter, Energy, Information. Philosophically I am inclined to suppose that these three will appear reducible to only one root, for which "information" is the clearest denotation available".

Elsewhere I have shown that the Greek philosopher Aristotle and the Hellenistic astronomer Ptolemy made, each in his own way, the same approach for analysing the world phenomena. And the intimated reduction to "information" alone shows the Platonism of its author. But far more striking is a comparison with Indian natural philosophy, above all the old *Samkhya-darsana*, with its three components of reality, the *gunas* : *tamas, rajas, sattva*. *Tamas* corresponds to inert matter, mere substance; *rajas* is energy, involving time, and *sattva* comprises in its state of pure "Software" Weizsacker's "Information" in a very broad sense.

Here the field is open to interesting interdisciplinary research work. Only two points shall be made here. Firstly, if Friedrich Engels speaks of Matter (Materic in German), he stresses his conviction that it be intrinsically combined with motion and with the laws of causation and dialectic development. This is why modern dogmatic materialists violently argue against what they call "vulgar materialism"—in the manner of, say, the Indian *Carvakas* (perfectly unknown to them, for that matter).

Secondly, it is a fasicinating task to elucidate some basic conceptions in Indian classical philosophical and religious teaching

by applying the *Samkhya gunas* to them. Only a few examples are allowed : In the *Vaisesika*, *tamas* corresponds well to *dravya* (mere substance, substratum), *rajas* to *karma* (in the specific meaning of energy and motion, used by the *Vaisesika*) and *sattva* to *guna* (again in their terminology, as information and abstract (quality).—In vendantic *Advaitavada*, I see *tamas* related to *maya*, *rajas* to *lila*, and *sattva* to *bodhi* or even *brahman*. In religious context, *tamas* reminds *cum grano salis* of *Kali*, *rajas* of *Krsna*, and *sattva* of the God *Brahma* or, if you like so, Lord *Siva* in his cosmic manifestation.— Finally, the well-known trinity of the *jnana marga* in the *Gita* : *sat*, *cit*, *ananda*, is linked somehow, on a more subtle level, to the discerning and understanding of reality in the classical *darsanas*.

4 2 Indian Spiritualism : Hope for the Future : Let us return to the problem of today. We are aware of this new anthropocentrism and geocentrism due to our confinement to the solar system and the species Homo sapiens on earth. And since technology, and artifacts have deeply penetrated our daily life, we are more and more surrounded and depending upon what my Sovyet colleagues call a "Second nature" (Vtoraya prioroda). The slow pace of natural biological evolution has been overrun by the progress of technical gadgets, while the manipulation of biological structures is still a nightmare of the furture.

But this embarrasing parallelism and, at the same time, divergence between evolution in nature and the so-called human progress, should motivate more *vijnana*, more understanding, in every respect. Here the legacy of India can be helpful. I recall the consistent correspondence between the two "worlds", already noticed by Alexander von Humboldt, to whom undoubtedly were known the old speculations about microcosm and macrocosm. In modern terms : There is the external world of natural objects and phenomena, and the internal world of the human mind, together with the different faculties, senses, and component parts of the body.

In the terminology of their days, this correspondence, this harmony, and their interdependence is amply expounded in the *Vaisesika* and *Samkhya* and some Buddhist textbooks. It is not necessary to give citation here. Spiritually, we bow to the wisdom of *upanisad* and vadantic sages who experienced in themselves the identity of *Atman* and *Brahman*. In India such an experience is a comon fact, but all mankind should behave according to the profound insight into the structure of reality and the ultimate goal of spiritual development—in mindfulness, love and peace. Everything changes, but Life is permanent. (*concluded*)

वेद-संस्थान के प्रकाशन

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' द्वारा रचित

△ **कर्मकाण्ड**	
तपो-याग	२.००
विजय-याग	०.८०
वृष्टियज्ञ-पद्धति	०.६०
वैदिक सत्संग	०.७०
,, साधना	०.८०
सत्यनारायण की कथा	०.८०
स्वस्ति-याग	१.४०
△ **कर्मकाण्ड-व्याख्या**	
जीवन-पाथेय	१.२५
यज्ञोपवीत-रहस्य	०.२५
सन्ध्या-योग	२.००
△ **ग्रन्थ-टीकाएं**	
गीतायोग	१२.००
योगालोक	२.५०
△ **जीवनी**	
अज्ञात महापुरुष	१.५०
जीवन-ज्योतियां	१.२५
राम-चरित	२.५०
'विदेह'-गाथा	५०.००, ६०.००
△ **नैतिकोत्थान**	
उत्तम स्वभाव	०.४०
गृहस्थविज्ञान	४.००
गृहस्थाश्रम	१.२५
चरित्र-निर्माण	०.७५
भारत के अध्यापकों से	१.००
,, विद्यार्थियों से	१.००
मानवधर्म	०.७५
विश्व-सुधार	२.००
वैदिक बाल-शिक्षा [चार भाग; प्रत्येक : १.२५]	४.००
वैदिक स्त्री-शिक्षा [दो भाग; प्रत्येक : ०.८०]	१.६०
△ **पद्य**	
दयानन्द-चरितामृत	६.००
योग-तरङ्ग	०.३०
'विदेह'-गीतावली	१.००
△ **योग**	
ओङ्कारोपासना	०.५०
गायत्री-मन्त्र का अनुष्ठान	०.७५
परमयोग	१.२०
महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान	०.४०
वैदिक योगपद्धति	०.७०
साधना	४.००
The Science of yoga	4.00
△ **यजुर्वेद-व्याख्या**	
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (यजु. १.१० अध्याय)	३०.००
[प्रत्येक अध्याय पृथक् पुष्पों में : क्रमशः ३.००; १.८०; २.२५; १.२५; २.००; २.००; ३.००; ४.००; ३.००; २.५०]	
An Exposition of the Vedas	6.00
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (यजु. ११-२० अध्याय)	४०.००
[प्रत्येक अध्याय पृथक् पुष्पों में : क्रमशः ४.००; २.००; १.६०; १.३५; ३.५०; २.५०; ४.००; ३.५०; ७.००; ७.००]	
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (३९वां अध्याय)	२.००
,, ,, (४०वां ,,)	२.००
△ **वेद-प्रवचन**	
'विदेह'-वाणी (३ उद्गार)	१५.००
△ **वेद-व्याख्या**	
आनन्द-सुधा	०.८०
गायत्री	२.००
The Vedic Prayers	1.50
प्रभु से विनय	६.००
वेदालोक	६०.००
वेदों की सूक्तियां	५.००
शिव सङ्कल्प	०.८०
सामवेद का अध्ययन	१.२५
△ **वैदिक अनुसन्धान**	
दयानन्द और उनका वेदभाष्य : फतहसिंह	१०.००
मानवता को वेदों की देन ,,	१२.००
भावी वेदभाष्य के सन्दर्भ-सूत्र ,,	१५.००
सुपर्णाङ्क	३.००
△ **संस्कृत**	
संस्कृतशिक्षा [दो भाग]	१.२०
संस्कृत-स्वयंशिक्षक [दो पुष्प]	३.५०
△ **स्वास्थ्य**	
स्वास्थ्य और सौन्दर्य	१.५०
Health and Beauty	2.00
△ **सामयिक**	
नेहरू : उत्थान और पतन	६.००
हिन्दु जाति के अस्तित्व की रक्षा	२.००

०.७० ४.०० 4.00 ०.०० 6.00 ०.०० २.०० २.०० ५.०० ०.८० २.०० 1.50 ६.०० ०.०० ५.०० ०.८० १.२५ ०.०० २.०० ५.०० ३.०० १.२० ३.५० १.५० 2.00 ६.०० २.००

इस कहानी से मेरा प्रयोजन सिर्फ़ यही संकेत करना था कि जब तक मन में इस तरह से सम्पत्ति का मोह छूटा नहीं है तब तक घर को छोड़ने से काम नहीं चलेगा क्यों कि आप और हम, सभी इस बात को जानते हैं कि इच्छा तो हृदय के अन्दर विद्यमान रहती है। इसलिए अगर वह इच्छा हृदय में लेकर हम जा रहे हैं तो चाहे घर में रहें चाहे जंगल में रहें तब तक वह प्रवृत्ति या बन्धन बराबर हमारे साथ जुड़ा हुआ है।

एक दूसरी कहानी है। यह कहानी है विश्वामित्र की। यह भी आपने अवश्य सुन रखी होगी। विश्वामित्र क्षत्रिय राजा थे। वशिष्ठ ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञ, बड़े ऋषि थे। एक गाय को लेकर विश्वामित्र और वशिष्ठ में झगड़ा हुआ। इस झगड़े में ब्रह्मशक्ति के आगे, जो क्षात्र तेज था वह परास्त हुआ। इसलिए विश्वामित्र ने यह निश्चय किया कि मैं भी ब्रह्मर्षि बनूंगा। प्रवृत्ति उनकी—आख़िर वे जन्म से क्षत्रिय थे। इसलिए प्रवृत्ति उनकी—वैसी ही थी जैसा कि उनका जन्म हुआ था। किसी से पराजय को वे स्वीकार नहीं कर सकते थे। ये उनका जो अहंकार था वह इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता था। इसलिए उन्होंने चाहा कि मैं क्षत्रिय के नाते ही यदि इस ब्रह्मर्षि के समक्ष दुर्बल, कमज़ोर सिद्ध हुआ हूं तो मैं इसको पराजित करने के लिए इसी की जो विद्या है या इसी का जो संस्कार है इसको प्राप्त करूंगा। पर भावना तो यही थी। स्पर्द्धा की भावना से वे ब्रह्मर्षि बनना चाहते थे। कोई ब्रह्मर्षि के गुणों को प्राप्त करने के लिए तो अभी उनके मन में भावना नहीं थी। उन्होंने बड़ा कठोर तप किया। देवता लोग प्रसन्न हो गए। आए, उन्होंने पूछा, 'क्या चाहते हैं आप?' ब्रह्मा जी ने उनको वरदान दिया कि 'जाओ, हमने तुमको राजर्षि बना दिया।' लेकिन विश्वामित्र तो इससे संतुष्ट नहीं हुए। उनको ब्रह्मर्षि बनना था। उन्होंने फिर तप करना शुरू किया। तब, यह कहानी आपने सुन रखी है—एक बार मेनका भेजी गई, एक बार रम्भा भेजी गई। मेनका से शकुन्तला का जन्म हुआ। रम्भा को, ग़ुस्सा होकर, उन्होंने पत्थर की बना दिया—कोयल के रूप में वह आई थी।

दोनों बार देवता विश्वामित्र के सामने प्रकट हुए और उन्होंने बड़ा उनका उपहास किया। संक्षेप में, उन्होंने कहा, 'काम और क्रोध तो तुमने जीते नहीं और ब्रह्मर्षि बनना चाहते हो! जब तक काम, क्रोध आपके हृदय में विद्यमान है तो ब्रह्मर्षि बनने की योग्यता आपमें आएगी नहीं। इसलिए चाहे आप कितना भी तप करें, केवल, एक, शरीर को सुखाने-मात्र से, मन पर यदि अभी परिवर्तन नहीं आया तो, केवल शरीर को सुखाने से या आहुति देकर देवताओं को प्रसन्न कर लेने से तो यह पथ प्राप्त नहीं होगा।' उसके बाद फिर विश्वामित्र को एक प्रकार से प्रबोध हुआ और उन्होंने अन्ततः ब्रह्मर्षि के पद को प्राप्त किया।

मेरा कहने का अभिप्राय केवल यही था कि प्रवृत्ति के मार्ग से यदि निवृत्ति के मार्ग की ओर जाना है तो दो शर्तें हमारे यहां लगाई गई हैं। इन दोनों शर्तों को मैं दुबारा से दोहरा रहा हूं आपके सामने क्यों कि ये बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। परिवार और समाज के प्रति जब तक आपका उत्तरदायित्व पूरा नहीं हुआ है तब तक हमारे ऋषियों ने हमें यह अधिकार नहीं दिया कि हम केवल आत्मकल्याण के लिए इस संसार को छोड़कर वन में चले जाएं या संन्यासी बन जाएं। और दूसरी बात, जब तक हमने अपने चरित्र का संस्कार नहीं कर लिया है तब तक हमको सिर्फ़ बाहरी चोला बदल लेने से कोई किसी प्रकार के कल्याण या श्रेय की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए बीच की कड़ी के रूप में वानप्रस्थ-आश्रम की व्यवस्था की गई। पुरुषार्थ-कल्पना की दृष्टि से यह वानप्रस्थ-आश्रम धर्म नामक पुरुषार्थ की साधना के लिए है। फिर से मैं एक बार यह बात दोहराऊं कि धर्म वैसे तो जीवन में सर्वव्यापक है। एक क्षण भी हम उसके बन्धन से मुक्त नहीं। गृहस्थ-आश्रम में भी धर्म है, ब्रह्मचर्य-आश्रम में भी धर्म है। लेकिन वानप्रस्थ-आश्रम विशेष रूप से धर्म की साधना के लिए है। क्रमशः

योग का क्षेत्र और उसकी उपलब्धियां [४]

सोमचैतन्य श्रीवास्तव, एम ए, एम ओ एल, शास्त्री
डी ए वी कॉलेज, कोरापुट

: ७ :

योग का सबसे व्यापक क्षेत्र है चित्त । चित्त दृश्य है, परिणामी है, त्रिगुणात्मक होने पर भी सत्त्वप्रकाश-प्रधान है, एवं पुरुष के भोग और अपवर्ग के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला है । यह सब विषयों को ग्रहण कर सकने के कारण 'सर्वार्थ' है । दर्पणवत् अथ वा शान्त, निर्मल सरोवर सदृश, इस चित्त में प्रतिबिम्बित आत्म-चेतना का प्रकाश ही व्यङ ग्य चिति [व्यंजित पुरुष] के रूप में विषयाकार रूप में परिणत चित्त के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त होकर ज्ञाता, भोक्ता, कर्ता, आदि भाव एवं सुख-दुःखादि के अनुभव से युक्त होकर अपने को बद्ध मानता है । चित्त में ही पूर्वजन्मार्जित कर्माशय है । चित्त में ही संस्कार, वासना एवं भावना का संचय होता है । त्रिगुण में से किसी एक गुण की अधिकता के फलस्वरूप चित्त की पांच अवस्थाएं होती हैं मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध । इनमें से अंतिम दो, एकाग्र और निरुद्ध, अवस्थाएं ही, सत्त्वप्रधान होने के कारण, योग के लिए उपयोगी हैं । चित्त की उत्पत्ति अस्मिता से होती है (४.४) । सांख्य एवं योग दर्शन में चित्त एक ऐसा द्रव्य है जिसमें प्राण, मन और बुद्धि के भी गुण, धर्म और कार्य सम्मिलित हैं । इस कारण इसके सही स्वरूप को समझने में कठिनाई होती है । अन्य दर्शनों में मन को सुख, दुःख का अनुभव करानेवाला, संकल्प और विकल्प कार्य को कार्य करनेवाला, इन्द्रियों का सहायक तथा उभयेन्द्रिय रूप द्रव्य माना गया है । संज्ञानार्थक **चिति** धातु से निष्पन्न 'चित्त' शब्द अपने चिन्तन-और-चेतनासमन्वित रूप, गुण, धर्म को सूचित करता है । बुद्धि पदार्थों के यथार्थ रूप का निश्चय करती है । अध्यवसायात्मिका होने पर भी, बुद्धि, ज्ञान का पर्याय होने से, जीवात्मा का गुण मानी जाती है । इन्द्रियों के मार्ग द्वारा विषय के रूप में परिणत होनेवाला चित्त दृश्य [अनात्म, सृष्टि] के ज्ञान के लिए अपने ज्ञाता एवं स्वामी पुरुष के सम्मुख प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति—इन पांच प्रकार की वृत्तियों के रूप में ही परिणत होता है । इनके निरुद्ध होने पर, दृश्य विषय के जाग्रत्, सुप्त वा स्मृति रूप में अवस्थित यथार्थ, अयथार्थ या कल्पित, सब प्रकार के ज्ञान का निरोध हो जाता है । क्यों कि चित्त एक काल में एक ही वस्तु को धारण कर सकता है, अतः दृश्य वस्तु के ज्ञान का निरोध होने पर उसमें द्रष्टा (पुरुष) के विषय का ज्ञान अभिव्यक्त हो जाता है । द्रष्टा पुरुष के ज्ञान के लिए पहले प्रमाणादि के रूप में विद्यमान दृश्यविषयक ज्ञान का निरोध अनिवार्य है । अतः चित्तवृत्ति-निरोध को योग का प्रमुख लक्षण और योगसाधना का प्रधान अभ्यास बताया गया है । व्यास ने योगसूत्र 'क्रमान्यत्वं परिणामान्तत्वे हेतुः' (३.१५) का भाष्य करते हुए परिदृष्ट और अपरिदृष्ट भेद से चित्त के दो प्रकार के धर्मों का वर्णन किया है । प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, राग और द्वेषादि, वृत्ति रूप में चित्त में व्यक्त दिखाई देने से, चित्त के के परिदृष्ट (प्रत्यक्ष-रूप) धर्म हैं । अ-परिदृष्ट (परोक्ष) धर्म सात हैं, जो शास्त्र, आप्तवचन और अनुमान से ही जाने जाते हैं ।

निरोध-धर्म-संस्काराः परिणामोथ जीवनम् ।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य, धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥

असंप्रज्ञात समाधि में सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध, धर्म (पुण्य-पाप), संस्कार, चित्त का क्षण क्षण में होनेवाला परिवर्तन-रूप परिणाम, जीवन (प्राप्त कार्य-श्वास-प्रश्वासादि क्रिया), चेष्टा (इन्द्रियादि की प्रवृत्ति) एवं शक्ति (मन में सूक्ष्म रूप में अवस्थित गुह्य शक्तियां तथा अध्यात्म-सिद्धियां), ये सात चित्त के अप्रत्यक्ष धर्म हैं ।

चित्त के स्वरूपज्ञान को दुर्बोध मानकर भोजराज ने पुरुष की स्थिति के द्वारा चित्त के स्वरूप को इस प्रकार बताया है, 'जिसके एकाग्रता में

परिणत होने पर चिति शक्ति की स्वरूप में प्रतिष्ठा (अवस्थिति) होती है तथा जिसके इन्द्रियवृत्ति द्वारा विषयाकार रूप में परिणत होने पर पुरुष तद्रूपाकार के समान प्रतीत होता है वह चित्त है (१.४)।

योगसूत्र में चित्त-संबंधी साधनाओं के प्रकरण में 'चित्त' शब्द के स्थान पर कहीं 'मन' (१.३१; ३३; २.४१; ५३; ३.४८) का, कहीं 'सत्त्व' (२.४१; ३.३५; ४६.५५) का, तो कहीं 'बुद्धि' (४.२१; २२) शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे इन शब्दों द्वारा संकेतित 'एक पदार्थ' को ग्रहण करने में बाधा आती है। प्रत्येक शब्द एक निश्चित संकेतितार्थ रखता है। एक पदार्थ के वाचक अनेक नाम होने पर भी, उनमें अर्थ का सूक्ष्म भेद होता ही है। योगदर्शन जैसे साधना-प्रधान ग्रन्थ में ऐसा भ्रमोत्पादक शब्दप्रयोग नहीं होना चाहिए था। परवर्ती योग-ग्रन्थों में 'मन' का प्रयोग 'चित्त' के पर्यायवाची के रूप में किया गया है तथा योगसूत्र में जो साधनाएं चित्त के लिए बतलाई गई हैं वे ही साधनाएं उन ग्रन्थों में मन के लिए बतलाई गई हैं। भगवद्गीता (६.३५) में मन की चंचलता का निरोध करने के लिए अभ्यास और वैराग्य को प्रमुख साधन बतलाया गया है। पर योगसूत्र में इन्हीं दोनों साधनों का चित्तवृत्तियों का निरोध करने के मुख्य उपाय के रूप में वर्णन (१.१२) किया गया है। योगसूत्रों से ही पता चलता है कि चित्त से बुद्धि का क्षेत्र अलग है तथा उसके क्रमिक विकास की सूचना ज्ञानदीप्ति (२.२८), ऋतंभरा प्रज्ञा (२.४८), प्रतिभा (३.३३), तारक ज्ञान (३.५४) और विवेकख्याति (२.२६), आदि शब्दों द्वारा तथा विभूतिपाद में वर्णित अनेक ज्ञानसंबंधी योगसिद्धियों द्वारा मिलती है। वस्तुतः इन दोनों तत्त्वों का मूल स्रोत भिन्न भिन्न है। चित्त की उत्पत्ति अस्मिता से होती है, तो बुद्धि की महत्-तत्त्व से।

चित्त की साधना का योग अन्तरंग योग है। इसके मुख्य साधन हैं विवेक, वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान तथा धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास। चित्त की साधना के मुख्य रूप से पांच प्रकार हैं।

(१) पाप और पुण्य, संसार और मोक्ष, अज्ञान और ज्ञान, इन दोनों की तरफ़ बहनेवाली चित्तवृत्ति की धारा को अज्ञान, संसार और पाप की ओर प्रवाहित होने से रोककर केवल मोक्षप्रापक ज्ञान-मूलक पुण्यकारक गुण, कर्म, स्वभाव, विचार, आदि के अर्जन के लिए प्रवाहित करना। मन की वृत्ति को सदैव आत्मचैतन्य और ईश्वर की ओर उन्मुख करना। इस साधना में वैराग्य और विवेक की सहायता ली जाती है।

(२) चित्त को मलिन करनेवाले मुख्य दोष छह हैं— राग, ईर्ष्या, दूसरों का बुरा (परापकार) करने की इच्छा, असूया (गुणों में दोषारोपण), द्वेष और अमर्ष (अपमानित और क्रुद्ध होने पर बदला लेने की इच्छा)। इन मलों का प्रक्षालन मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा गुणों के अभ्यास से होता है। मैत्री भावना के अभ्यास से राग और ईर्ष्या को, करुणा के अभ्यास द्वारा दूसरों का बुरा करने की इच्छा को, मुदिता (पुण्यशील के प्रति हर्ष) के अभ्यास से असूया को, और उपेक्षा (उदासीन और समत्व में स्थित होना) के अभ्यास से द्वेष और अमर्ष को दूर किया जा सकता है। (१.३३)। इन मैत्री, आदि गुणों के अभ्यास से चित्त निर्मल, प्रसन्न और एकाग्र होता है। इसी को भावनाशुद्धि वा 'चित्तप्रसादन' कहते हैं। यही आन्तरिक पवित्रता है। भावनाशुद्धि का मुख्य सूत्र है **वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्** (२.३३)। दोषों के विकारी रूप, उनके उत्पादक क्रोध, आदि, एवं उनसे प्राप्त होने-वाले फल, दुःख, हानि, अपयश, आदि की शृंखला का चिन्तन करते हुए, उनमें दोष देखकर उन्हें बार बार हटाने का प्रयत्न करना तथा उनके स्थान पर उनके प्रतियोगी गुणों को स्थापित करने का पुनः पुनः अभ्यास करना। मनु (५.१०९) ने 'सत्य' को मन का शोधन करनेवाला प्रमुख गुण माना है।

(३) योग में प्रतिबन्धक प्रमाद, संशय, आलस्य, अ-विरति, भ्रान्तिदर्शन, दौर्मनस्य, अलब्धभूमिकत्व, आदि चित्त के दोषों को दूर करने के लिए प्रणव-

जप, एवं तत्त्वाभ्यास एवं अन्य योग-साधना के उपायों का आश्रय लेना (२.२९-३२) चाहिए। प्रमादादि दोष मुख्यतः तमोगुण के कारण होते हैं। अतः तमोगुणनाशक आहार, विहार, स्वाध्याय एवं अन्य प्राणायामादि क्रियाएं करनी चाहिएं।

(४) रजोगुण द्वारा विक्षिप्त चित्त या मन की चंचलता को दूर कर उसे शांत और स्थिर बनाने के लिए योगसूत्र के समाधिपाद (१.३५-३९) में वर्णित, विषयवती प्रवृत्ति, विशोका ज्योतिष्मती, वीतरागविषयक संयम, स्वप्नज्ञानावलंबन, निद्राज्ञानावलम्बन, यथाभिमत ध्यान, इन उपायों में से किसी एक का अभ्यास करना चाहिए।

(५) मन के निर्मल, शान्त, स्थिर एवं आत्मोन्मुख हो जाने पर उसे धारणा, ध्यान तथा समाधि के अभ्यास के द्वारा अधिकाधिक एकाग्र, और निरुद्ध करने का अभ्यास किया जाता है। दीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप अविद्यादि सब क्लेशों, कर्मों और उनके संस्कारों के भी नष्ट हो जाने पर, गुणों के मलावरण से रहित चित्त अनन्त प्रकाश से युक्त, केवल सत्ता मात्र के रूप में अवशिष्ट रह जाता है। जब पुरुष को विवेकख्याति द्वारा अपने को चित्त से पृथक् होने का बोध हो जाता है, तब चित्त भी उस पुरुष के प्रति अपना प्रयोजन समाप्त हो जाने के बाद अपने कारण, प्रकृति में लीन हो जाता है। व्यष्टि-चित्त के नष्ट होने के साथ ही पुरुष भी उस चित्त के साथ तादात्म्यरूप अज्ञान-बन्धन से मुक्त होकर अपने स्वरूप शुद्ध चैतन्य में प्रतिष्ठित हो जाता है।

चित्त के स्वरूप का ज्ञान तथा चित्त-संबंधी योगसिद्धियों की प्राप्ति संयम के अभ्यास से होती हैं। चित्त हृदय में प्रतिष्ठित है। अतः आध्यात्मिक हृदय-देश में स्व-चित्तविषय पर संयम (धारणा-ध्यान-समाधि की त्रिपुटी) करने से चित्त का ज्ञान होता है (३.३४)। दूसरे के चित्त को संयम का विषय बनाने से परचित्त का ज्ञान (३.१९-२०) होता है। मैत्री, करुणादि भावनाओं में संयम करने से भाव्य विषय मैत्री, आदि का बल (३.३३) प्राप्त होता है। ध्यानादि के द्वारा किसी भी अभीष्ट गुण की प्राप्ति तथा उस प्राप्त गुण के बल की वृद्धि की जा सकती है। स्वार्थ (स्व+अर्थ) विषय पर संयम करने से चित्त में प्रातिभ-सिद्धि का उदय होता है। इससे वह सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट (दूरस्थ), अतीत और अनागत वस्तुओं और विषयों को जानने में समर्थ होता है (३.३६)। शरीर में स्वबन्धन के कारण को शिथिल करके, चित्त पर शरीर में आविष्ट हो सकता है (३.३८)। तमोगुण और रजोगुण के आवरण के क्षीण हो जाने पर, सीमा के भंग हो जाने से सत्त्वप्रकाश से युक्त चित्त शरीर से बाहर भी कार्य करने में समर्थ होता है (३.३४)। ध्यान-बलसम्पन्न योगी प्रयोजनवश अपने संकल्प से अनेक निर्माण-चित्तों की सृष्टि कर सकता है तथा उन सबको पृथक् पृथक् कार्य करने के लिए एक साथ प्रेरित कर सकता है (४.४-५)। जब विवेकख्याति का उदय होने पर पुरुष अपने को चित्त से पृथक् समझ लेता है तथा चित्त को आत्मा समझने की उसकी भावना भी लुप्त हो जाती है, तब से चित्त का झुकाव भी पुरुष के कैवल्यसाधन की ओर हो जाता है (४.२६)। सर्व मलावरणों के नष्ट हो जाने पर चित्त में सत्त्व के अनन्त प्रकाश का उदय होने के साथ ही उसके लिए ज्ञेय पदार्थ भी अल्प हो जाते हैं तथा तारक ज्ञान के सामर्थ्य से युक्त चित्त युगपत् सब विषयों को सर्वाङ्ग रूप में जानने में समर्थ होता है। पुरुषविषयक ज्ञान होने पर जब पुरुष चित्त से पृथक् हो जाता है तब पुरुष का चैतन्य-बिम्ब हट जाने से चित्त भी शुद्ध हो जाता है। (४.३१; ३.५४)। पुरुष-बिम्ब से रहित चित्त-सत्त्व का निज 'सत्तामात्र' में अवस्थित होना ही 'चित्तशुद्धि' है। जब चित्त और पुरुष, दोनों एक दूसरे से नितान्त पृथक् होकर अपनी अपनी सत्ता में अवस्थित होते हैं, दोनों ही समान रूप से निज निज शुद्ध रूप में होते हैं, दोनों ही 'केवल' (अकेला) की स्थिति में हो जाते हैं तभी 'कैवल्य' सिद्ध होता है; **सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्** (३.५५)।

क्रमशः

उत्तिष्ठत जाग्रत

सत्यभूषण, वेदालंकार, एम ए
ग्रीनपार्क, नई दिल्ली

तू कहां सोया है ? कब से सोया है ? क्यों सोया है ? मोह-मदिरा में उन्मत्त होकर निद्रा में सर्वस्व लुटा दिया तूने । अरे, सोते सोते तूने सब कुछ खो डाला । "जो सोवत है सो खोवत है", यह सच ही कहा गया है । सोते हुए तमोगुण की प्रभुता रहती है—**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि नाशनं सर्वदेहिनाम्** (गीता)—अज्ञान से तमोगुण पैदा होता है, जो सब देहधारियों का नाशक है । अतः तमोमयी निद्रा में सो जाना, मग्न हो जाना, स्वकीय, कर्तव्य कर्मों से विमुख हो, यम-नियमों का पालन न कर, दैवी संपत् को न धारण कर, किंचिन्मात्र भी परोपकार, परसेवा न कर स्वोदर-दरी को आपूर्यमाण करने में भोगासक्त हो जाना, सचमुच, सो जाना है । जीवन में मृत्यु को शीघ्र आमंत्रण देना है ।

क्या तुझे मालूम है कि तू कितने दिन का मेहमान है ? इस संसार की सराय में कब तक टिकेगा ? वेदमन्त्र पुकार-पुकार कर कह रहा है—**अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता । गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ।** अरे, कल तक न टिकने वाले अश्वत्थ पेड़ पर तुम्हारा वासस्थान है, तिस पर भी उसके चंचल पत्ते में तुम्हारा वास है । पुनरपि तुम उस परम-पुरुष का स्मरण न कर उसकी उपासना न कर इन्द्रियों के दास बने हुए हो ।

अरे, कुछ और सुनो, कहीं से ध्वनि आ रही है **यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति । यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।** (ऋ ५-४४-१४) ।

जो जागता है, चाहती उसको ऋचाएं हैं सभी,
जो जागता है साम उसको हैं वरण करते सभी ।
जो जागता संसार का सुख प्राप्त करता है वही,
सुख वास्तविक उसको मिला, जो नर रहे अति उद्यमी ।।

उत्क्रमातः पुरुष ! मावपत्थाः । अथर्व. ८.१.४ हे पुरुष ! तू इस अवस्था से ऊपर को उठ, आगे बढ़, नीचे की ओर मत गिर। **उद्यानं ते पुरुष ! नावयानम्** । अथर्व ८ १.६ । पुरुष ! तू उन्नति कर। तेरा अधःपतन न हो । कभी सत्य सनातनी परम-पावनी, वेदवाणी, श्रुति का यह दिव्य संदेश भी तेरे कर्ण-कुहरों में प्रतिध्वनित हुआ ? विश्वात्मा की विराट् वीणा से तेरी हृत्तन्त्री झंकृत हुई ? सृष्टि के आदि काल से यह श्रुति-माधुरी विश्व के प्रत्येक कण में गुंजारित हो रही है । महाकवि प्रसाद ने श्रद्धा के मुख द्वारा यही संदेश मनु को सुनाया है, **अरे, यह क्या तुम सुनते नहीं, विधाता का मंगल वरदान । शक्तिशाली हो विजयी बनो, विश्व में गूंज रहा विजयगान ।** जागरण, उत्थान से मानव देव बन जाता है; पतन, अवनति से दानव । गीता का भी यही संदेश है, **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।** यदि बालक मूलशंकर अपनी आंखों पर छींटे मार मार कर शिवरात्रि को न जागता तो सच्चे शिव को खोज-कर महर्षि दयानन्द का पुण्य पद कैसे प्राप्त करता ? अतः हे मानव ! तू उठ, जाग । **उत्तिष्ठत जाग्रत ।**

परार्थ-चिन्तन

एक बार गान्धी जी आनन्दभवन में ठहरे थे। प्रातःकाल उठ कर हाथ-मुंह धोने लगे तो जवाहर लाल आ गए बातें करने। वे बहुत थोड़ा पानी काम में ले रहे थे। बातचीत के सिलसिले में दो बार कुल्ला करना पड़ा तो बोले—पानी अनावश्यक रूप से ख़र्च कर दिया। यह प्रमाद हुआ।

जवाहरलाल हँस कर बोले—यहां गंगा-यमुना बहती है। रेगिस्तान तो है नहीं। अधिक पानी ख़र्च हो गया तो चिन्ता कैसी?

गान्धी जी ने कहा—गंगा-यमुना क्या मेरे ही लिए बहती हैं। प्रकृति में कोई चीज़ कितनी ही हो, मनुष्य को उसमें से उतनी ही ख़र्च करनी चाहिए जितनी अनिवार्य हो।

पवित्रता

कई लोग गंगास्नान कर रहे थे। पानी गहरा था। इस लिए कुछ लोग किनारे बैठ कर ही स्नान कर रहे थे। सन्त कबीर भी उनमें से ही एक थे। स्नान से निपट कर उन्होंने अपना लोटा माँजा और अन्य ब्राह्मणों को दिया ताकि सुविधापूर्वक नहा लें।

कबीर का लोटा देखकर ब्राह्मण दूर हट गए। बोले—दूर रखो अपने लोटे को। जुलाहे के लोटे से नहा कर हमें क्या अपवित्र होना है?

कबीर ने कहा—कई बार मिट्टी से मांजने और गंगाजल से धोने पर यदि यह लोटा स्वच्छ नहीं हुआ तो दुर्भावनाओं से भरा तुम लोगों का शरीर स्नान करने से कैसे पवित्र होगा?

—अर्चना

(पृष्ठ १७१ का शेष)

यह अग्नि कैसा है? ऐसा है जिसे बुद्धि से चेताया जाता है, जो बुद्धि में प्रदीप्त होता है, जो बुद्धि को ज्ञान की प्राप्ति के लिए और ज्ञान का उपयोग करने के लिए प्रेरणा देता है। ऐसे इस अग्नि से तारक धन मांगो। यह बुद्धि को स्फुरित करेगा, प्रेरित करेगा।

यह अग्नि नया नहीं है, पुरातन है। अनादि है, अनन्त है। यह सम्पूर्ण चाहों की पूर्ति करने वाला है। इसे बुद्धि में प्रदीप्त करो। यह भंडार भर देगा। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध प्रदान करने के लिए इसके पास कोई कमी नहीं है। जितना चाहे लो। जैसे चाहो, लो। जब चाहो, लो।

और, धन का भण्डार भर देने वाला, यह अग्नि, केवल भौतिक धन ही नहीं देता, सुविचारों का धन भी देता है, सद्गुणों का धन भी देता है। सुविचारक बना, सद्गुणी बनो। उससे नश्वर पदार्थ क्या मांगते हो! अविनाशी धन मांगो। वह देता है और दे सकता है।

अग्नि बुद्धि से चेतता
यज्ञ-केतु परिपूर्ण।
[है] तारक [हो] उसका अर्थ।

पाठकों से

पाठकों से निवेदन है कि एक पोस्ट कार्ड पर निम्न तीन बिन्दुओं पर अपने स्पष्ट विचार संक्षेप में लिख भेजने की यथाशीघ्र कृपा करें—

१ 'वेद-सविता' के वे अंश कौन से हैं जो आपको नहीं रुचते हैं?
२ क्या आप ऐसे अंशों में कोई सुधारात्मक परिवर्तन सुझाना चाहते हैं? यदि 'हाँ' तो क्या?
३ 'वेद-सविता' में अन्य किस प्रकार की वेद-विषयक, अथ वा अन्य प्रकार की पाठ्य-वस्तु आप चाहते हैं।

—सम्पादक, 'वेद-सविता'

प्रभो ! वह धन दो

भगवान् "चैतन्य", एम ए, साहित्यालंकार
२८/एस २, सुन्दरनगर ४ (मण्डी)

यद् वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत पर्शाने पराभृतम् । वसु स्पार्हं तदा भर ॥

ऋ ८.२१.१३, अथर्व. २०.११४.१

हे पिता मुझे धन-धान्य के ये अम्बार नहीं चाहिए,
हे पिता मुझे रुपए-पैसों के भण्डार नहीं चाहिए ।
ये सब सुख तो कल तक ही समाप्त हो जाने वाले हैं,
ये क्षणिक धन कहां भला चिरस्थायी रहने वाले हैं ।
मैं तो इन सबको वास्तविक ऐश्वर्य नहीं मानता हूँ,
मैं इन्हें पिता सुख का भी आधार नहीं मानता हूँ ।
यह मिल भी जाए तो गुणहीनता है पल में खो दूंगा,
या विषय वासना में पड़कर पापों के बीज बो दुंगा ।
तुम्हारे समक्ष मैं भी आज एक याचक बनकर आया हूँ ।
मैं भी तुम्हारे पास आज एक भिक्षुक बनकर आया हूँ ।।

मुझे सच्ची सम्पदाएं देकर आज दाता निहाल कर दे ।
आज मुझे तू अनुपम धन दे करके मालोमाल कर दे ।।
जो धन तूने दिया है दृढ़ और न दबने वाले को,
जो धन तूने दिया हैं स्थिरता में रहने वाले को ।
जो धन तूने दिया है उन विचारशील पुरुषों को ।
जो सदा से देता आ रहा है तू महान मनुष्यों को ।।
मुझे भी केवल दाता वह दृढ़ता का वरदान दे दे ।
चिरस्थिरता और विचारशीलता मुझे दान दे दे ।
मुझे भी वह रमणीय चाहने योग्य धन प्राप्त करा ।
सांसारिक धन-दौलत की कीचड़ से प्रभु ऊपर उठा ।।

संस्कृत-सुभाषित

एकः प्रसूयते जन्तुर्, एक एव प्रलीयते ।
एकानुभुङ्क्ते सुकृतम्, एक एव दुष्कृतम् ।

—श्रीमद्भागवत

प्राणी अकेले जन्म लेता है और अकेले ही मरता है। वह अकेले ही पुण्य और पाप का फल भोगता है ।

लभन्ते कथम् उत्थानम्, अस्थानं गुणिनो गताः ।
दृष्टः किं क्वापि केनापि, कर्दमात् कन्दुकोद्गमः ।

—अनुश्रुत

अनुचित स्थान पर पाये गए गुणी जन कैसे उन्नति करेंगे ? क्या कहीं, किसी ने कीचड़ से कन्दुक को ऊपर उछलते देखा है ?

(पृष्ठ १७८ का शेष)

सजीव करने के लिए आप किस रूप में एवं कितना सहयोग दे रहे हैं ।' उत्साह को तोड़ने वाली एवं कार्य में बाधा डालने वाली आलोचना नहीं, बल्कि जन जन से यथासामर्थ्य भरपूर सहयोग की आवश्यकता है । दूसरों के कार्य को नहीं, अपने अंशदान के कार्य को तोलिए । यदि अब तक आपने वेद-प्रचार के कार्य में हाथ नहीं बंटाया है तो अब आगे आकर हाथ बंटाइए । जो इस योजना के प्रति निष्ठावान् हैं वे अपना कार्य यथासामर्थ्य कर रहे हैं । परिणाम के प्रकट होने में समय लगता है । मूक दर्शक या आलोचक बने रहने मात्र से तो इस महान् कार्य को सिद्ध होने में कोई सहायता नहीं मिलेगी । कम से कम आप 'वेदनिधि' में तो अपना नियमित अंशदान दे ही सकते हैं ।

अभी तो जो भी साधन जहां, जिस रूप में भी उपलब्ध हैं वहां, उन्हीं के आश्रय से वैदिक स्वाध्याय के केन्द्रों का कार्य आरंभ करना पड़ेगा । कार्यक्षेत्र का विस्तार होने के साथ साथ संगठन एवं व्यवस्था संबंधी अन्य कार्य स्वतः ही होते चलेंगे ।

अन्तर्ज्योति

मोहनलाल शर्मा 'रश्मि'

९०७/ए, 'डी' साईट, फ्रीलैण्डगंज, दाहोद ३८९१६०

आदेश यही वेदों का है, तुम अन्तर्ज्योति जगाओ ।
विषय भोग के बन्धन से तुम मुक्त आज हो जाओ ।।
काम क्रोध और लोभ मोह मद, मायावी ज़ंजीरें ।
सद्ज्ञान हृदय में कर प्रबुद्ध, इनको तोड़ दिखाओ ।।
मानव का जीवन है भाई, यह एक विशाल यज्ञशाला ।
आत्मसमिधा की आहुति दे, तुम प्रकाश प्रगटाओ ।।
बाह्य अग्नि के प्रकाश से ना सत्य कभी झलकेगा ।
अन्तर्ज्योति जगाकर भाई, सभी दिशा चमकाओ ।।
भोग क्षमता इन्द्रियों की, क्या बढ़ा रहे सुख ख़ातिर ।
तृप्ति से इनकी जीवन कैसे, तुम सार्थक बना पाओ ।।
दास इन्द्रियों का जब यह मन, हो जायेगा प्यारे ।
होगी मंद आत्मज्योति यह, मन को तुम समझाओ ।।
आत्महीनता से चाहे तुम, क्षणिक सुख को भोगो ।
आनंद परम जो सच्चा "रश्मि", सपनेहुँ देख न पाओ ।।

संस्थान-प्रकाशनों पर

संस्थान-होता [सदस्यों] और 'वेद-सविता'-ग्राहकों के लिए नई कमीशन दरें

१ दिसम्बर, '८३ से वेद-संस्थान (अजमेर, नई दिल्ली) के आजीवन और वार्षिक होताओं को २५% तथा 'वेद-सविता' के आजीवन और वार्षिक सदस्यों को १५% कमीशन कम से कम १० रु, वा इससे अधिक, मूल्य की संस्थान-पुस्तकों के क्रय पर दिया जाया करेगा । १० रु से कम मूल्य की पुस्तकों पर कोई कमीशन देय नहीं होगा । 'वेद-सविता' के वार्षिक ग्राहकों को उनकी ग्राहकी के दूसरे वर्ष से ही कमीशन देना आरम्भ होता है, यह ध्यान रखें ।

—मन्त्री, वेद-संस्थान, अजमेर

संस्कृत-स्वयंशिक्षण [५७]

[ये पाठ रटने के लिए नहीं, केवल समझने के लिए हैं। हां, किसी भी उत्साही व्यक्ति के लिए इन्हें एक मास में याद कर लेना कठिन नहीं है। चाहें तो, अभ्यासकार्य को शोधनार्थ, डाकटिकटों के साथ भेज सकते हैं। —सम्पादक]

सप्तमी विभक्ति के प्रयोग [२]

५) कुछ शब्दों को वाक्यों में प्रयोग करने पर, उनसे सम्बद्ध शब्द के सप्तमी विभक्ति के रूप का प्रयोग किया जाता है। जैसे,

अधि (=ईश्वर) के योग में।	भूः **रामे** अधि अस्ति। (=भूमि राम के अधिकार में है।)
	रामः **भुवि** अधि अस्ति। (=राम भूमि का स्वामी है।)
अधिक के योग में	ईश्वरः **लोके** अधिकः अस्ति। (=ईश्वर लोक में अधिक—बढ़कर है।)
अधिपति के योग में।	नन्दः **गोषु** अधिपतिः अस्ति। (=नन्द गौओं का मालिक है।)
असाधु के योग में।	कृष्णः **मातुले** असाधुः अस्ति। (=कृष्ण मामा के लिए बुरा है।)
आयुक्त के योग में।	देवदत्तः **यज्ञकार्ये** आयुक्तः अस्ति। (=देवदत्त यज्ञकार्य में नियुक्त है।)
ईश्वर के योग में।	कृष्णः **गोपेषु** ईश्वरः अस्ति। (=कृष्ण ग्वालों का ईश्वर है।)
उत्सुक के योग में।	कन्या **केशेषु** उत्सुका अस्ति। (=कन्या बालों [को संवारने] में सावधान रहती है।)
उप (=अधिक) के योग में।	प्रभोः गुणाः **परार्धे** उप सन्ति। (=प्रभु के गुण परार्ध से अधिक हैं।)
कुशल के योग में।	देवदत्तः **यज्ञकर्मणि** कुशलः अस्ति। (=देवदत्त यज्ञकर्म में कुशल है।)
दायाद के योग में।	कृष्णः **गोषु** दायादः अस्ति। (=कृष्ण गौओं का पैतृक अधिकारी है।)
निपुण के योग में।	सेवकः **राज्ञि** निपुणः अस्ति। (=सेवक राजा [की सेवा करने] में निपुण है।
प्रतिभू के योग में।	अहं **गोषु** प्रतिभूः अस्मि। (=मैं गौओं का ज़ामिन हूँ।)
प्रसित के योग में।	छात्रः **केशेषु** प्रसितः अस्ति। (=छात्र केशों [को बनाने] में लगा रहता है।)
प्रसूत के योग में।	कृष्णः **गोषु** प्रसूतः अस्ति। (=कृष्ण गौओं में [,अर्थात्, गौओं का ही उपयोग करने के लिए] उत्पन्न हुआ है।)
साक्षी के योग में।	भवान् एतासु **गोषु** साक्षी अस्ति। (=आप इन गौओं के गवाह हैं।)
साधु के योग में।	शिष्यः **गुरौ** साधुः अस्ति। (=शिष्य गुरु के लिए भला है।)
स्वामी के योग में।	नन्दः **गोषु** स्वामी अस्ति। (=नन्द गौओं का मालिक है।)

क्रमशः

मन चंगा तो कठौते में गंगा

'मन चंगा तो कठौते में गंगा'—कहावत तो बड़ी पुरानी है; पर इसके मर्म को कितने लोग पहचानते हैं? पहचानें तो तब जब स्वयं सीधा-सच्चा जीवन जीएँ। दूसरों को उपदेश देते रहें और स्वयं सदाचार और शिष्टाचार से दूर तक का कोई सम्बन्ध न रक्खें; तब इस कथन का रहस्य कैसे पकड़ में आये?

मन चंगा तब हो जब तन चंगा हो। तन चंगा तब हो जब शरीर जिस अन्न से विकसित होता है उसकी पवित्रता का ध्यान रक्खा जाय। जो आदमी कठोर परिश्रम नहीं करता, उसे अन्न खाने का कोई अधिकार नहीं है। वह अन्न खायेगा भी तो उससे शरीर भले ही सुपुष्ट हो जाय मन पवित्र हो नहीं सकता।

सब लोग सुख चाहते हैं, सुविधा चाहते हैं, दुःखों से छुटकारा चाहते हैं, पर इसके लिए सही रास्ते की खोज नहीं करना चाहते। जीवन कांटों की शय्या है, फूलों का बिछौना नहीं। सुविधाओं को खोजते हुए जीवन नहीं जीया जाता। कठोर परिश्रम का मार्ग अपनाकर, दुःखों और विपत्तियों को चुनौती देते हुए जीवन जीया जाय तो सुविधाएँ राह पड़ी रेती की तरह अपने आप मिल जाती हैं। उनको खोजना नहीं पड़ता। उनकी भीख नहीं मांगनी पड़ती। सुविधाओं की भीख मांगने वाला मनुष्य है ही नहीं।

शरीर को जितना घिसोगे, उतना ही यह चमकेगा, दमकेगा। इसे जितना आराम दोगे, यह उतना ही शिथिल होगा। कर्म से मत घबराओ। कर्म का उद्देश्य परमात्मा और जीवात्मा की सेवा करना होता है। गांधी जी कहा करते थे कि और कुछ नहीं तो अपने स्वास्थ्य को उत्तम बनाए रखने के लिए ही कर्म करो। कर्म करने से शरीर ही नहीं मन भी पवित्र होगा। मन बड़ा शक्तिशाली है। उसको चंगा रखने से जीवन सुचारु रूप से चलता रहता है। सब सुविधाएं सुलभ हो जाती हैं। असंभव भी संभव हो जाता है। अलभ्य भी मिल जाता है। असाध्य भी साध्य हो जाता है।

मन की गति बड़ी चंचल है। वह किधर चल दे, इसका कोई भरोसा नहीं है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का विकास तो होता है; पर उसे अवसर मिल गया तो वह भागते देर नहीं करता। उसे अभ्यास करके बांधे रखना होता है। प्रयत्न यह किया जाय कि वह ख़ाली न रह पाये। प्रतिक्षण उसे किसी न किसी चुनौती के सामने खड़ा रखो, किसी समस्या से जूझने के लिए विवश करो। वह थकता नहीं है। जितना भार उस पर लादोगे, उतना ही वह स्वस्थ रहेगा। यह बात दूसरी है कि उसकी भी एक सीमा है, शक्ति की इयत्ता है। यह सीमा सिकुड़े नहीं, यह इयत्ता समाप्त न हो, इसके लिए उसे परमात्मा से जोड़े रहो। मनुष्य जो कुछ भी करे, अपने क्षुद्र-स्वार्थों की पूर्ति के लिए न करे। कर्म करके ईश्वर को समर्पित कर दे। कर्म का सार 'इदं न मम' है।

मन को चंगा बनाओ, सु-मन बनाओ, समाज में सौ-मनस्य पैदा करो। इस सु-मन को परमात्मा को अर्पित कर दो। परमात्मा के चरणों में श्रद्धापूर्वक सु-मन चढ़ाना, उसकी सर्वोत्तम पूजा है। ऐसा एक बार नहीं, बार-बार करो; जीवन का क्रम बना लो। इससे हर मञ्ज़िल आसान हो जाएगी। सभी काम सफल होंगे। —पंचोली

'वेद-संस्थान क्यों? क्या?' (एक परिचय)

पुस्तिका निःशुल्क मंगाकर संस्थान-विषयक पूरी जानकारी लीजिए और संस्थान के वार्षिक [पोषक, अथ वा वेदभक्त, होता] सदस्य बनकर वेदान्दोलन में अपना अमूल्य सहयोग दीजिए।

प्रतिक्रिया

१) दिसम्बर, १९८३ के 'वेद-सविता' के मुखपृष्ठ पर वेदमंत्रव्याख्या बहुत ही शिक्षाप्रद और सारगर्भित है। 'दयानन्द-स्वप्नांक' भी आजकल पढ़ रहा हूं। बहुत ही गंभीर प्रयास किया गया है जो महर्षि दयानंद के वेद-भाष्य की शैली को समझने में बड़ा लाभदायक होगा। यह सब आपके प्रयत्नों का सुफल है।

—शालग्राम पाराशर, जलन्धर

२) 'दयानन्द-स्वप्नांक' एक अनूठी उपलब्धि है। उसमें मार्मिकता और सरलता से वैदिक ज्ञान का हृदयस्पर्शी विवेचन हुआ है। इस तरह की खोज से, निरन्तरता से किंकर्तव्यविमूढ़, भारतीय जन को, निश्चित ही, प्रकाश मिलेगा।

कितना स्पृहणीय होगा वह दिन जब 'विश्वमानुष' नाम से एक त्रैमासिक वैदिक शोधपत्रिका [पृ. १०० पर उल्लिखित] का प्रकाशन आरंभ हो जाएगा।

वैदिकशोध-कार्यक्रम में, सबसे पहले, 'वैदिक समाजशास्त्र' पर अतिशीघ्र कार्य आरंभ हो जाए तो जनसमाज को एक सामयिक उत्साहवर्धक मार्गदर्शन प्राप्त होगा।

—डॉ शुकरत्न उपाध्याय, ग्वालियर

३) मैं 'वेद-सविता' का अध्ययन भी करता हूँ और इसे रिकार्ड में भी रखता हूँ ताकि भावी सन्तानों के भी काम आए।

—विश्वम्भरनाथ अरोड़ा, दिल्ली

४) 'वैदिक स्वाध्याय के केन्द्र' लेख का परिवर्धित रूप 'आर्यजगत्' को भेजा था। न लेख-प्राप्ति की सूचना मिली, न लेख प्रकाशित हुआ, न लौटाया गया। 'वेद-ज्योति' (लखनऊ) के संपादक ने आग्रहपूर्वक लेख मांगा था, तथा 'वेद-सविता' के अगस्त, १९८३-अक में प्रकाशित 'वेद-स्वाध्याय के केंद्र' के कुछ अंशों को प्रकाशित करने की अनुमति मांगी थी। अनुमति देने के साथ, उन्हें 'वैदिक स्वाध्याय के केन्द्र' लेख की प्रति भेजी थी। अब उनका पत्र आया है कि आप वेदपरिषद् के सदस्य बनें तो लेख छपेंगे। ये दो नमूने हैं वेदनिष्ठा तथा आर्य (!) चरित्र के।

—सोमचैतन्य श्रीवास्तव, कोरापुट

५) 'दयानन्द-स्वप्नांक' वैदिक साहित्य की जानकारी देनेवाला अनमोल ग्रन्थ है। इतनी ज्ञानवर्धक कोई पुस्तक अभी तक देखने को नहीं मिली। एक एक लेख संपूर्ण वैदिक साहित्य का निचोड़ है; डॉ फतहसिंह जी का आभार है।

—सुधीरकुमार शर्मा, बहादुरपुर जट्टा

६) परमात्मा करे ऐसी पत्रिका सदैव निकलती रहे क्यों कि यह वेदज्ञान की अमृत-वर्षा करती है।

—डॉ रामप्रसादसिंह, कोरबा (बिलासपुर)

७) 'दयानन्द-स्वप्नांक' के निबन्धों का भाष्य भी आवश्यक है। जनसाधारण के लिए इनका सरलीकरण हो तो अच्छा है। दुरूह विषय उसके लिए तो और भी दुरूह हो सकता है जो वैदिक शब्दावली से अपरिचित है। मैं एक एक निबन्ध बड़े मनोयोग से पढ़ रहा हूँ; मुझे तो वे सरल से लग रहे हैं।

डॉ फतहसिंह ने वेदभाष्य के वास्तविक स्वरूप को प्रकट किया है, इसमें सन्देह नहीं है। सचमुच, वे दयानन्द के स्वप्न को पूरा कर रहे हैं।

'वैदिक परिभाषा-कोश' आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। आपका यह प्रयास स्तुत्य है। डॉ सिंह की प्रतीक-पद्धति, सचमुच, वेदभाष्यजगत् के लिए एक क्रान्ति ही है।

—कोमलभाई 'केश', कौड़िया (आज़मगढ़)

८) नवम्बर, १९८३-अंक में 'पिता-पुत्र', 'आनन्द का सन्तापक अस्त्र', वैदिक स्वाध्याय के केन्द्र', 'धरती के धारक', आदि लेख देवयज्ञ की ओर इशारा करते हैं।

—कृष्णलाल पोद्दार, बंगलौर

९) 'श्रीगुरुदेवपत्रिका' (जि. अमरावती) ने 'वेद-सविता' से डॉ पंचोली का लेख, 'ब्रह्मविहार' अपने अक्टू., १९८३-अंक में और 'मित्र बनें सद्ग्रन्थ' अपने नवम्बर-दिसम्बर, १९८३-अंक में उद्धृत किया है।

१०) 'दयानन्द स्वप्नांक' पढ़ गया। अतीव अमूल्य सामग्री संचित कर दी है। डॉ. फतहसिंह और डॉ श्रद्धा चौहान के गहन अध्ययन ने मुझे प्रभावित किया है।

दयानन्द-स्वप्नाङ्क

अथ कोऽयं फतहसिंहः ? केनास्य नाम्नि ममनाम्ना सदृशं पाश्चात्यपौरस्त्यसंधिः कृता ? 'फतह'-शब्दस्तु विजयवाचकः। सिंहः हिनस्तेः हिंसाकारकः। 'फतह-शब्दो मम मते गिरीशस्य दक्षिणप्रान्तना-

मानुसारतः फत्ता=स्पर्ता=स्पार्टा शब्दमनुहरति । वेदे 'स्पृ'-धातोः स्पर्तम्, स्पर्ता च विजयार्थे प्रयुक्तौ । अतः 'फतह'-शब्दः वैदिक स्पृ-धातोः प्रभवति । 'मुन्शी'तु मनीषी संस्कृतवाङ्मये मननकर्ता, मनसः स्वामी च । पश्चिमे मुन्शी लेखकः इति कथ्यते । तर्हि 'फतहसिंहः' पाश्चात्यविज्ञानवार्ता पौरस्त्य-ज्ञानवार्तया सह संयुनक्ति ।

दयानन्द-स्वप्नांके 'वेद-सविता' तथ्यमिदं पुरस्करोति । संस्कृतसैमिटिकशब्दाः कथमुच्चारण-भेदेन रूपं परित्यजन्ति—अम्बा=अम्मा, अम्बु वा आपः अब्बा (आब), नमः नमाज़ भवति—इति विद्वद्वरेण्यलेखकेन सोदाहरणं प्रस्तुतीकृतः । 'दयानन्द और उसका स्वप्न', "वेदोद्धारक दयानन्द' 'वेदभाष्य' प्रभृति हिन्दीलेखेषु लेखकस्य वैदुष्य-श्रम-दाक्ष्यपूर्णा गहनवेदाध्ययनपद्धतिः विव्यक्ता। श्रीमतीश्रद्धाचौहानस्य 'पुरुष तत्त्व', 'पुरुष की परिभाषा' लेखद्वयं तस्याः वेदेषु श्लाघनीयां श्रद्धां प्रकटीकरोति' ।

मन्ये सर्वमिदं स्वर्गीय-आचार्यप्रवरस्य पूज्य-विदेहस्यैव आशीर्वादः । भगवानस्मान् तत्पुण्यपथे सुदृढ़ी करोतु ।

भवतु विभोऽयमभयः पंचोली पंचराडपि ।
फतहो वेदविद्यायां स्पर्ता भवतु सिंहवत् ॥
श्रीमती विदुषी श्रद्धा चौहानवंशभूषणा ।
वत्सगोत्रं विभूषतु स्वोपज्ञप्रतिभायुता ॥

—**मुंशीराम शर्मा 'सोम'**, कानपुर

११) 'दयानन्द-स्वप्नांक' में इतनी ठोस सामग्री है कि मेरे जैसे अल्पबुद्धि के मनुष्य के लिए तो एक बार में पढ़कर समझ पाना मुश्किल हो रहा है । बार बार पढ़कर मनन एवं चिन्तन करने की चीज़ आपने प्रस्तुत की है। 'दयानन्द-स्वप्नांक' और 'मानवता को वेदों की देन' मात्र विशेषांक न रहकर रिसर्च-पेपर्स का रूप अख्तियार कर गए हैं । डॉ फतहसिंह के वेदज्ञान की गहराई को देखकर दाद देनी पड़ती है । ऐसी उत्तम सामग्री प्रस्तुत करने के लिए बधाई । —**शिवदत्त शर्मा**, आगरा

१२) 'दयानन्द-स्वप्नांक' को पढ़ रहा हूं । एक एक वाक्य के मनन में अधिक समय लगा रहा हूं । उपनिषदों का अब पुनः अध्ययन कर रहा हूं । तब उन्हें नहीं समझा था । अब समझ रहा हूं । 'दयानन्द-स्वप्नांक' से मुझे दृष्टि मिली है । मैं उस दृष्टि को मंत्रों के समझने में लगा रहा हूं । ....आपने जितना कर लिया है, कोई क्या करेगा ? 'दयानन्द-स्वप्नांक' ने जो दृष्टि दी है उससे भावी पीढ़ियां आपका यश गाएंगी । वेदभाष्य के इतिहास में डॉ फतह-सिंह के साथ आपने एक और अध्याय जोड़ा है ।.... 'वैदिक परिभाषा-कोश' अपने ढंग का अनूठा है । किन्तु यह श्रमसाध्य है और व्ययसाध्य भी । आप कर ले जाएंगे । ईश्वर पर भरोसा रखें ।

—**कोमलभाई 'केश'**, कौड़िया (आज़मगढ़)

13) I Congratulate you on such a nice exposition of the Isa-Upanisad-mantra. I had previously too suggested you to incorporate in 'Veda-Savita' exposition of Upanisad-mantras, which are highly emotional and appealing to general public, say, of katha-, kena-, Mundaka-, Isa-Upanisad and so on. And if you give masterly touch to them, they shall appeal far more than too scholarly subject as published by you, which benefit very few people. I shall again re-iterate my request that you give better coverage to 'Videh-Vani' and his expositions for so many of subjects. I mean only to say that 'Veda-Savita', so painfully published, should have something to add to better understanding of Hindu way of life.

—**Harikumar**, Ambala Cantt

१४) डॉ फतहसिंह तथा श्रीमती श्रद्धा चौहान के शोध-निबन्ध पठनीय हैं । वेद के गूढ़ विषयों को सर्वसाधारण पाठक के लिए सरल भाषा और शैली में प्रस्तुत करने का भरसक प्रयत्न किया गया है । प्राचीन विचारों को आधुनिक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते समय Obscurantism से बचना ही चाहिए ।

— प्रो **वेदप्रकाश** ['विश्वज्योति' (होशिआरपुर) के जनवरी,'८४-अंक में समीक्षा से]

१५) वेदमन्त्रों की बुद्धिग्राह्य व्याख्या, सर्वोत्तम तथा प्रेरणाप्रद लेखों का संग्रह, नवीनतम विचारों की झांकियां, ये सब आजीवन ग्राहक बन जाने की ओर प्रेरित कर रही

हैं। ऐसी उत्तम पत्रिका को गतिशील बनाए रखने के लिए धन्यवाद ! पत्रिका की ग्राहकी से विमुख होने को मन चाहता ही नहीं।

—आचार्य **कन्हैयालाल टाटावत,** नई दिल्ली

१६) भारत में धनकुबेरों की कमी नहीं है परन्तु उनके धन के विनियोजन करने की प्रेरणा की दिशा बदल गई है। अब वह कर्मोन्मुख एवं जनकल्याणोन्मुख न होकर कामोन्मुख एवं अर्थ(+प्रभुत्व)-उन्मुख हो गया है। चुनावों के लिए करोड़ों रुपए उनकी सहायता से ही इकट्ठे होते हैं। विभिन्न आंदोलनों के लिए पैसा उनसे ही मिलता है। मन्दिरों के निर्माण, बड़े बड़े यज्ञों के अनुष्ठान, अन्नदान, आदि के लिए भी लाखों, करोड़ों रुपए एकत्र हो जाते हैं जहां काला धन सफ़ेद धन में बदला जाता है या उनके पाप पर पुण्य का आवरण चढ़ जाता है, सरकारी कृपा हो जाती है, धर्मात्मा सेठ होने का सुयश मिलता है या स्वर्ग में उनका स्थान निश्चित होने का विश्वास होता है। जनकल्याण तथा सामान्य लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए—इष्टापूर्त के कार्यों को धर्म-कार्य समझकर उनमें--धन लगाने की जो भारतीय परम्परा थी उसे अब पाश्चात्य जगत् के उदारमना लोगों एवं संस्थाओं ने अपना लिया है। शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में विस्तार तथा स्वतन्त्र अनुसंधान के लिए वहां अनेक बड़े बड़े फ़ाउण्डेशन तथा ट्रस्ट मिलेंगे पर भारत में उनके स्तर का एक भी नहीं। पिछड़े देशों में, वहां रोग, अशिक्षा, ग़रीबी, आदि को दूर कर उन्हें उन्नत करने वाली पाश्चात्य जगत् की अनेकों संस्थाएं कार्य कर रही हैं परन्तु भारतीय मूल की भी कोई ऐसी संस्था है, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में केवल एक उदाहरण मिलता है—भामाशाह का, जिसने स्वामिभक्ति की निष्ठा से प्रेरित होकर मेवाड़ के स्वाधीनता-संग्राम के लिए अपनी सम्पत्ति दान में दी थी। भारतीय स्वाधीनता के बाद, भारतीय साहित्यकारों को पुरस्कृत करनेवाला एक ही पुरस्कार स्थापित हुआ है—ज्ञानपीठ पुरस्कार, जो अपने निर्णयों के लिए वर्षों से विवाद का विषय बना हुआ है।

—**सोमचैतन्य श्रीवास्तव,** कोरापुट

सद्भावना

१) जीवन में कभी परिस्थितियां अनुकूल हुईं तो संस्थान और स्वामी जी के मिशन में भाग लूंगा। इन दोनों के प्रति मेरे हृदय में अटूट श्रद्धा है जो जीवन-भर बनी रहेगी। — **तेजसिंह,** खेरली गुर्जर (भरतपुर)

२) मैं संस्थान के उन अनेक चहेतों में से एक हूँ जो संस्थान की बहुमूल्य पुस्तकों से लाभ उठाते हैं। संस्थान की अनेक पुस्तकों को पढ़ने का मुझे सौभाग्य मिला है। विशेष रूप से 'वेद-सविता' मासिक से मैं अत्यन्त प्रभावित हूँ। वेद-संस्थान वेदसूर्य की रश्मियों को संसार में बिखेरता है।

—**दीपक आर. जोशी,** देवरकोंडा (नलगोंडा)

३) मैं, गत वर्षों की भांति, वेद-संस्थान के शिविर से बड़ा प्रभावित हुआ हूं। वेद के प्रचारार्थ जो प्रयत्न संस्थान कर रहा है वह सराहनीय है। पर इतने से ही वेद का साधारण जन तक पहुँच पाना संभव नहीं है। इससे पूर्व जन-साधारण में अपने धर्म और संस्कृति के प्रति रुचि उत्पन्न होनी अत्यावश्यक है। केवल वेद-संस्थान ऐसी संस्था है जो इस विषय में कुछ कर रही है।

—**शालग्राम पाराशर,** जलन्धर

४) वेदों के प्रचार-प्रसार-अनुसन्धान में वेद-संस्थान ने बहुमुखी रचनात्मक कार्य किए हैं जिनका मूल्यांकन असंभव है। —**कृष्णचन्द्र रवाणी,** कोटा

मूल्यांकन

'महामृत्युंजय-मन्त्र का अनुष्ठान' : बड़ी उत्तम पुस्तक है। हमारे यहां बड़ी ही पसंद की गई है। अग्रवाल-सभा इसे अधिकाधिक मंगाकर निःशुल्क वितरण का विचार कर रही है। —**रघुनाथप्रसाद शर्मा,** नहटौर (बिजनौर)

'विदेह-वाणी' : 'विदेह-वाणी' से मुझे बड़ा लाभ हुआ है। इसका स्वाध्याय करनेवाला अवश्य ही अपने इष्ट [मोक्ष] की प्राप्ति का अधिकारी होगा।

—**धर्मचन्द्र खट्टर,** रुड़की

संस्थान समाचार

अजमेर

'वेदामृत' : दिसम्बर, '८३ में ४ को **अभयदेव** का, ११, १८ को **मदनसिंह चौहान** के, २५ को डॉ **बद्रीप्रसाद पंचोली** का वेदप्रवचन हुआ ।

—**विश्वदेव शर्मा**, मंत्री

नई दिल्ली ११० ०२७

सी २२, राजौरी गार्डन (दूरभाष : ५० २३१६)

साधना-सदन

दैनिक, महिला-सत्संग : दिसम्बर, '८३ में यथानियम होते रहे । स्वामी श्रेयोनन्द के प्रातः दैनिक प्रवचनों के अतिरिक्त, नित्य सायं संस्कृत-वेद-अध्यापन भी उन्होंने किया ।

मासिक सत्संग : ११ दिसम्बर, '८३ को **अभयदेव** का वेदप्रवचन 'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि ...' मन्त्र पर 'इन्द्रियों की शान्ति' शीर्षक से हुआ ।

साप्ताहिक सत्संग : ४, १८, २५ दिसम्बर, '८३ को हुए । प्रत्येक तृतीय रविवार को श्री **गोपालशरण 'विद्यार्थी'** के वेदप्रवचन हुआ करते हैं ।

ब्रह्म-सदन

अभयदेव का एक वेदप्रवचन ११ दिसम्बर को प्रातः वैदिक सत्संगमण्डल, राजेन्द्रनगर में हुआ । स्वामि-द्वय, दयानन्द और निर्मलानन्द के वेदप्रवचन दिल्ली, अम्बाला, चण्डीगढ़, इलाहाबाद, जबलपुर में हुए । **देवव्रत** के वेदप्रवचन वैदिक सत्संगमण्डल और पारिवारिक सत्संगों में हुए ।

अर्थसदन

नवीन होता : वेदनिष्ठ : नई दिल्ली से सर्वश्री अजयकुमार गोगिया, आदित्य आनन्द, विनीतकुमार तथा शालग्राम पाराशर (जलन्धर), सुशीला आर्या (दिल्ली), सोहनलाल आर्य (डेरा गोपीपुर, हि. प्र.) । **पोषक** : अनीता सूद (बम्बई), जगत्पालसिंह (शाहजहांपुर), राजकुमार सैनी (वल्लभगढ़), शान्तिलाल चड्ढा (न.दि.), सुदेश कपूर (न.दि.), उमेशकुमार आर्य (रोहतक) ।

—**गन्धर्वराज पुरी**, कार्यालय-मन्त्री

अगला साधना-शिविर

वेद-संस्थान, सी २२, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली ११० ०२७ में मई, '८४ के अन्तिम सोमवार (२८) से आरम्भ होगा और २८ जून, '८४ के प्रथम रविवार (३) तक होगा ।

शिविर में पधारने के इच्छुक महानुभाव और महिलाएं तारीखें नोट कर लें और इन तारीखों को शिविरार्थ निकाल पाने की व्यवस्था अभी से सोच रखें ।

आत्मिक शान्ति, बौद्धिक भोजन, मानसिक तृप्ति, जीवन में उत्साह, समस्याओं का समाधान, पाने के लिए वर्ष में एक बार तो साधना-शिविर में पधारा ही कीजिए ।

आपका प्रिय वेद-संस्थान क्या, कैसा कार्य कर रहा है, इससे परिचय भी इस प्रसंग से आप पा सकेंगे । परिचय से स्नेह प्रगाढ़ होगा, सहयोग की अनेक धाराएं फूटेंगी ।

अपने पधारने की सूचना यथाशीघ्र दें । आवश्यक सूचनाएं मंगाकर पंजीकरण करा लें ।

—**हरकृष्णलाल ओबराए**

सचिव, साधना-सदन, वेद-संस्थान, नई दिल्ली

स्वामी 'विदेह' का युगान्तर-कारी अमर वेदभाष्य

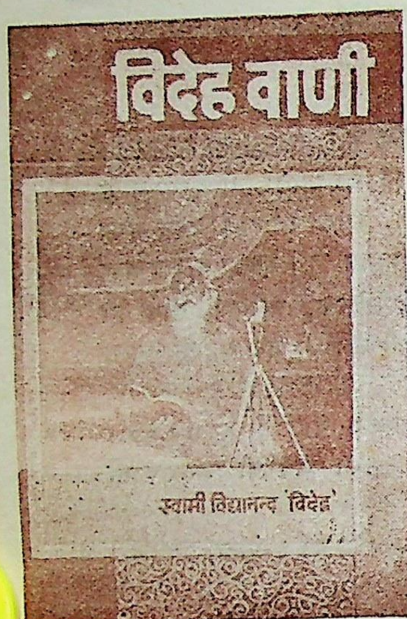
वेदव्याख्या–ग्रन्थ

वेदों को जन जन की पहुँच में ले आनेवाला भाष्य। इसके होते यह बहाना अब नहीं बनाया जा सकता कि वेद पढ़ना लोहे के चने चबाना है। वेदों को मानव के धर्मशास्त्र के रूप में प्रस्तुत करनेवाली, आचरण-ग्राह्य इस व्याख्या से वेद का वेदत्व निखरता है। वेदों में निहित मन्त्रों का जो क्रम है, उसका स्वारस्य प्रकट करते हुए, संगतियुक्त अर्थविचार का यह, वेदाध्ययन के इतिहास में, प्रथम गंभीर प्रयास है। इसका प्रत्येक शब्द आध्यात्मिक साधना, और विश्वमानवता से सुवासित है। भाषा-शैली सरल, रोचक, ललित; साथ ही आत्मीयता, पवित्रता, गहन चिन्तन की छाप। स्वामी 'विदेह' के बाद, उन्हीं की शैली में अब यह ग्रन्थमाला डॉ अभयदेव शर्मा लिखरहे हैं।

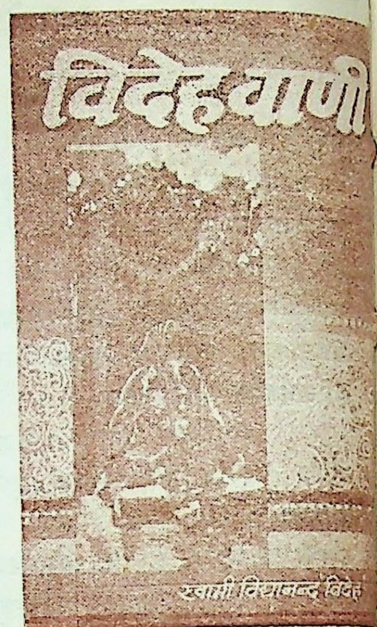
अभी तक प्रकाशित अंश : यजुर्वेद-संहिता के १ से २० अध्यायों की व्याख्या, दो खंडों में, ७०.००। प्रत्येक अध्याय की व्याख्या पृथक् पृथक् भी प्राप्त। प्रथम अध्याय की व्याख्या का अंगरेज़ी अनुवाद भी उपलब्ध।

स्वामी 'विदेह' के अन्यान्य भी, वेदभाष्य-परक कुछ ग्रन्थ हैं, जैसे, शिव-संकल्प, सामवेद का अध्ययन, इत्यादि। विस्तृत विवरण के लिए सूचीपत्र मंगाकर अवश्य देखें।

प्रथम	पुष्प	[प्रथम अध्याय]	: व्यक्तित्व का सुनिर्माण	(तृतीय संस्करण)	रु ३.००
द्वितीय	''	[द्वितीय '']	: गृहस्थाश्रम की सुव्यवस्था	('' '')	'' १.८०
तृतीय	''	[तृतीय '']	: आत्मसाधना	(द्वितीय '')	'' २.२५
चतुर्थ	''	[चतुर्थ '']	: पृथिवी का दिव्यीकरण	('' '')	'' १.२५
पञ्चम	''	[पञ्चम '']	: दिव्य दम्पतियों का निर्माण	('' '')	'' २.००
षष्ठ	''	[षष्ठ '']	: शिक्षा-शास्त्र		'' १.००
सप्तम	''	[सप्तम '']	: वाचस्पति-संस्थान		'' १.५०
अष्टम	''	[अष्टम '']	: योग-शास्त्र		'' १.५०
नवम	''	[नवम '']	: जीवनसंग्राम-शास्त्र		'' १.००
दशम	''	[दशम '']	: राष्ट्रनिर्माण-शास्त्र		'' १.००
एकादश	पुष्प	[ग्यारहवाँ '']	: योग-जीवनपद्धति		रु १.२५
द्वादश	''	[बारहवाँ '']	: अध्यात्म-सुधा		'' २.००
त्रयोदश	''	[तेरहवाँ '']	: विश्व-कल्याण		'' १.६०
चतुर्दश	''	[चौदहवाँ '']	: सार्वभौम ध्रुवता		'' १.३५
पंचदश	''	[पन्द्रहवाँ '']	: '' मानवता		'' ३.५०
षोडश	''	[सोलहवां '']	: रक्षा-शास्त्र		'' २.५०
सप्तदश	''	[सत्रहवाँ '']	: समृद्धिकरण		'' ४.००
अष्टादश	''	[अठारहवाँ '']	: यज्ञमय जीवन-पद्धति		'' ३.५०
एकोनविंश	पुष्प	[उन्नीसवाँ '']	; जगती का आनन्दमयीकरण		'' ७.००
विंश	''	[बीसवां '']	: विवेकमय जीवन		'' ७.००
एकोनचत्वारिंश	पुष्प	[उन्तालीसवाँ '']	: साधना-विज्ञान		रु २.००
चत्वारिंश	''	[चालीसवाँ '']	: जीवन-संविधान		'' २.००
		[छत्तीसवाँ '']	: आनन्द-सुधा		रु ०.८०







प्रथम उद्गार
के प्रवचन

गृहस्थ की मर्यादाएँ
आत्मसाधना
नौका बनो
अपना मार्ग
जीवनपद्धति

रु ५.००

द्वितीय उद्गार
के प्रवचन

दर्शन के अधिकारी
योग का मार्ग
उसको जानो
गोपाल
यज्ञ-संस्कृति
वेदमाता द्वारा प्रशंसित

रु ५.००

तृतीय उद्गार
के प्रवचन

प्रभु का नाम, प्रभु का काम
प्रभु से मांगो
पूजित धन
शिशु बन, पूजित धन मांग
छिद्रपूर्ति
मेरी महिमा
दाम्पत्य जीवन

रु ५.००

अपने उद्धार के लिए, अपने घर, समाज को स्वर्ग बनाने के लिए

'विदेह'-वाणी

से बढ़कर अचूक उपाय नहीं है

इस युग के अद्वितीय उपदेष्टा, स्वामी 'विदेह' की चमत्कारी प्रेरणाएं आपकी कायापलट कर देंगी

रजिस्टर्ड सं आर. जे. (अजमेर) ३३. Licensed to post without pre-payment लाइसेंस सं पी. पी.

संस्थापकः : स्वामी विद्यानन्दः 'विदेहः' ※ वर्षम् ४ : अङ्कः ८; मार्च, १९८४



वेद-सविता

सतत प्रकाशन का ३७वां वर्ष

वेदमन्त्र-व्याख्या का भूतल पर एकमात्र पत्र ※ वेद-स्वाध्याय का श्रेष्ठ माध्यम

तपः—साधनाशिविरांक

तप=संग्राम

घनेव विष्वग् वि जह्य् अ+राव्णस्, तपुर्-जम्भ ! यो अस्म-ध्रुक् ।
यो मर्त्यः शिशीते अत्य् अक्तु-भिर्, मा नः स रिपुर् ईशत । ऋग्वेद १.३६.१६

कण्व घोर । अग्नि । सतोबृहती ।

१ (अ+राव्णः) अ-दाताओं का, (घना-इव) मानो घन द्वारा, (विष्वक् वि जहि) सर्वतः वि-घात करो।

२ (तपुर्-जम्भ !) संतापक-जम्भवाले ! (यः अस्म-ध्रुक्) जो हमारा हननेच्छु [है], (मर्त्यः यः) मरणधर्मा जो (अक्तु-भिः अति शिशीते) आयुधों द्वारा अति-क्षीण करता है (रिपुः सः) चुनौती-दाता वह (नः मा ईशत) हम पर ईशत्व न करे।

तप संग्राम है अन्तःकरण-क्षेत्र का। मुक़ाबला है देवों और असुरों में। असुर हमें विकास 'नहीं करने देते' [**अ-रावाणः**]। उनका नेता वृत्र-अहि हमें मारने की नीयत [**अस्म-ध्रुक्**] से हमें चुनौती दे रहा [**रिपु**] है। वह अपने चमचमाते आयुधों से चुपचाप हमारी जड़ें काट रहा है [**अति शिशीते**]। वह हम पर हावी न हो जाए।

अग्नि उसे अपने जबड़े में झुलसा सकता है। उसका जबड़ा लोहे के घन जैसा मज़बूत है।

—**अभयदेव**

अँधेरे चीर दे जो सौ युगों के। वह 'सहगल' वेद-सविता की किरण है।

वेद-संस्थान के प्रकाशन

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' द्वारा रचित

△ कर्मकाण्ड

तपो-याग	२.००
विजय-याग	०.८०
वृष्टियज्ञ-पद्धति	०.६०
वैदिक सत्संग	०.७०
,, साधना	०.८०
सत्यनारायण की कथा	०.८०
स्वस्ति-याग	१.४०

△ कर्मकाण्ड-व्याख्या

जीवन-पाथेय	१.२५
यज्ञोपवीत-रहस्य	०.२५
सन्ध्या-योग	२.००

△ ग्रन्थ-टीकाएं

गीतायोग	१२.००
योगालोक	२.५०

△ जीवनी

अज्ञात महापुरुष	१.५०
जीवन-ज्योतियां	१.२५
राम-चरित	२.५०
'विदेह'-गाथा	५०.००, ६०.००

△ नैतिकोत्थान

उत्तम स्वभाव	०.४०
गृहस्थविज्ञान	४.००
गृहस्थाश्रम	१.२५
चरित्र-निर्माण	०.७५
भारत के अध्यापकों से	१.००
,, विद्यार्थियों से	१.००
मानवधर्म	०.७५
विश्व-सुधार	२.००
वैदिक बाल-शिक्षा [चार भाग; प्रत्येक : १.२५]	६.००
वैदिक स्त्री-शिक्षा [दो भाग; प्रत्येक : ०.८०]	१.६०

△ पद्य

दयानन्द-चरितामृत	६.००
योग-तरङ्ग	०.३०
'विदेह'-गीतावली	१.००

△ योग

ओङ्कारोपासना	०.५०
गायत्री-मन्त्र का अनुष्ठान	०.७५
परमयोग	१.२०
महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान	०.४०
वैदिक योगपद्धति	०.७०
साधना	४.००
The Science of yoga	4.00

△ यजुर्वेद-व्याख्या

वेदव्याख्या-ग्रन्थ (यजु. १.१० अध्याय) [प्रत्येक अध्याय पृथक् पुष्पों में : क्रमशः ३.००; १.८०; २.२५; १.२५; २.००; २.००; ३.००; ४.००; ३.००; २.५०]	३०.००
An Exposition of the Vedas	6.00
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (यजु. ११-२० अध्याय) [प्रत्येक अध्याय पृथक् पुष्पों में : क्रमशः ४.००; २ ००; १.६०; १.३५; ३.५०; २.५०; ४.००; ३.५०; ७.००; ७.००]	४०.००
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (३९वां अध्याय)	२.००
,, ,, (४०वां ,,)	२.००

△ वेद-प्रवचन

'विदेह'-वाणी (३ उद्गार; प्रत्येक : ५.००)	१५.००

△ वेद-व्याख्या

आनन्द-सुधा	०.८०
गायत्री	२.००
The Vedic Prayers	1.50
प्रभु से विनय	६.००
वेदालोक	६०.००
वेदों की सूक्तियां	५.००
शिव सङ्कल्प	०.८०
सामवेद का अध्ययन	१.२५

△ वैदिक अनुसन्धान

दयानन्द और उनका वेदभाष्य : फतहसिंह	१०.००
मानवता को वेदों की देन ,,	१२.००
भावी वेदभाष्य के सन्दर्भ-सूत्र ,,	१५.००
सुपर्णाङ्क	३.००

△ संस्कृत

संस्कृतशिक्षा [दो भाग]	१.२०
संस्कृत-स्वयंशिक्षक [दो पुष्प]	३.५०

△ स्वास्थ्य

स्वास्थ्य और सौन्दर्य	१.५०
Health and Beauty	2.00

△ सामयिक

नेहरू : उत्थान और पतन	६.००
हिन्दु जाति के अस्तित्व की रक्षा	२.००

कहाँ क्या ?

इस अंक में प्रस्तुत हैं ५ वेदमन्त्रों पर चिन्तन

आजीवन : [केवल व्यक्तियों के लिए] १५० रु; विदेशों में ३०० रु; हवाई डाक से रु ५००

एक प्रति : १ रु;

वार्षिक : १२ रु [+विशेषांक-रजिस्ट्रेशन रु ३.००]; वी पी द्वारा रु १५.४०; विदेशों में ३० रु; हवाई डाक से रु ७०

ग्राहकी-अवधि : अगस्त— जुलाई ['वेद-सविता' के नवीन ग्राहक, चाहें तो, अगले जुलाई तक के शेष मासों के लिए एक रु प्रति-मासांक के हिसाब से राशि भेज सकते हैं।]

सम्पर्क-सूत्र

प्रधान-सम्पादक: : **बद्रीप्रसाद: पंचोली**, एम ए, पीएच डी
६४, जीवनविहार कॉलोनी, आनासागर सर्क्युलर रोड,
[अंगरेज़ी-खण्ड] म. **चैतन्यमुनिः** [अजमेर ३०५ ००१
प्रेस-रजिस्ट्रार पंजीयन-सं. : आर एन ३८०५१/८
प्रकाशक: : **वेद-संस्थानम्**, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड,
मुद्रक: : **प्रिण्ट हाउस**, अजमेर [अजमेर ३०५ ००१

वेद-संस्थान के उद्देश्य

वेद को विश्वधर्म बनाना, संस्कृत को विश्वभाषा बनाना, विश्व में वैदिक संस्कृति की स्थापना करना।

अध्यक्ष : **अभयदेव**, एम ए, पीएच डी

मार्च, '८४ के वेदप्रवचन

वेद-संस्थान, अजमेर

रविवारीय 'वेदामृत' [प्रातः ७.३० से ८.३०] में 'साधना'-यज्ञ के पश्चात् ४, १८ मार्च को **अभयदेव** के, ११ को **मदनसिंह चौहान** का, २५ को डॉ **बद्रीप्रसाद पंचोली** का वेदप्रवचन।

वेद-संस्थान, नई दिल्ली

रविवारीय सत्संग : [सायं ४ से ५] ४, २५ को **डा फतहसिंह** के, १८ को गोपालशरण 'विद्यार्थी' का वेदप्रवचन।

महिला-सत्संग : ६, १३, २०, २४ को सायं ३ बजे से।

मासिक-सत्संग : [सायं ४ से ५] **अभयदेव** का वेदप्रवचन।

हिमाचलप्रदेश के महाविद्यालय-, ज़िला-, और स्कूल-पुस्तकालयों के लिए अनुमोदित (शिक्षा-निदेशालय के पत्रांक : शिक्षा-एच (८)-६ (६) १/७७; दिनांक २४.१२. '८१ के अनुसार)

वेद-संस्थान के वेदभक्त होता (सदस्य), श्री इन्द्रसेन चण्ढोक का १० जनवरी, १९८४ को देहान्त हो गया। अपने पीछे वे भरा-पूरा वेदश्रद्धालु परिवार छोड़ गए हैं। अन्तर्यामी उनके पावन आत्मा को चिर शान्ति का, और उनके संतप्त परिवार को धैर्य का प्रसाद प्रदान करें।

—**अभयदेव**, अध्यक्ष, वेद-संस्थान (अजमेर-नई दिल्ली)

सृष्टि का रहस्य

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता । अथर्ववेद १२.५.१

[सृष्टि] (श्रमेण, तपसा सृष्टा) श्रम [और] तप के द्वारा रची [जाती है], (ब्रह्मणा वित्ता) विज्ञान के द्वारा जानी [जाती है], (ऋते श्रिता) ऋत में आश्रित [रहती है]।

१) सृष्टि यों ही सृष्ट नहीं हो जाती है। सृष्टि की रचना में प्रकृति को घोर श्रम और घोर तप करना पड़ता है।

सृष्टि के रहस्य भी यों ही ज्ञात नहीं हो जाते हैं। उसके रहस्यों को जानने के लिए वैज्ञानिकों को विज्ञान का आश्रय लेकर घोर श्रम और तप करना पड़ता है। तब जाकर कहीं सृष्टि के रहस्य खुल पाते हैं।

सृष्टि यों ही स्थित नहीं रहती है। सृष्टि ऋत [सत्य-नियम] में स्थित रहती है। ऋत के बिना सृष्टि एक क्षण भी स्थित नहीं रह सकती। ऋत [प्राकृत सत्याचार, प्राकृत सदाचार] में ही सृष्टि की स्थिति है।

२) सृष्टि नाम सुरचना का है। सुरचना के तीन स्तम्भ हैं। १. श्रम और तप [साधना], २. ब्रह्म [ज्ञान, विज्ञान, विवेक], ३. ऋत [सत्याचार]।

यदि आप अपने जीवन का सुनिर्माण करना चाहते हैं तो श्रम और तप कीजिए, ज्ञान प्राप्त कीजिए और सत्याचरण का अवलम्ब कीजिए।

यदि आप अपने परिवार वा समाज का सुनिर्माण करना चाहते हैं तो उसके लिए श्रम और तप कीजिए, समझदारी से काम लीजिए और सदाचार पर आधृत होइए।

यदि आप अपने विश्व वा राष्ट्र की सुरचना करना चाहते हैं तो श्रम और तप का अवलम्ब कीजिए, विवेक से काम लीजिए और ऋताचार में स्थित होइए।

साधना, विवेक और पुनीताचार, इस त्रित में सुनिर्माण और सुरचना का रहस्य सन्निहित है।

यह शिविराङ्क

वेद-संस्थान, नई दिल्ली में नवम्बर, '८३ के साधना-शिविर में हुए प्रवचनों के सार इस अंक में यथाशक्य दिए जा रहे हैं। यह अंक सितम्बर, '८३ के शिविराङ्क से आरम्भ परम्परा में है।

नवम्बर, '८३ के शिविर का विषय 'तप' था। अधिकतर प्रवचन-मालाएं और भाषण 'तप' से प्रत्यक्षतः वा परोक्षतः संबद्ध थे। श्री मदनसिंह चौहान ने न केवल 'तपस्वि-चरित-स्मरण' पर प्रवचनमाला दी, अपि तु अधिकतर प्रवचनों के सार भी लिखने का अनुग्रह किया। उनका आभार है। डॉ फतहसिंह के प्रवचनों के सार संस्थानाध्यक्ष, श्री अभयदेव ने लिखे हैं। सार-लेखन के कार्य में परिष्कार की अभी काफ़ी गुंजायश है। यत्न रहेगा कि अगले शिविरों में बहतर ढंग से सार-लेखन हो सके।

प्रातः तपोयाग के बाद के वेदप्रवचनों, 'तप का वैदिक स्वरूप'-प्रवचनमाला, सायंकालिक वेदप्रवचनों में से कुछ के सार प्रस्तुत अंक में दिए जा रहे हैं। १५ नवम्बर, '८३ को 'विदेह'-जन्म-दिवस पर हुए विशिष्ट प्रवचन का सार भी दिया जा रहा है।

संस्थान के शिविर एक प्रकार के स्वाध्याय-शिविर होते हैं। प्रति-छह मास में होने वाले ये शिविर इतनी सामग्री प्रदान कर देते हैं कि अगले छह मास तक स्वाध्याय और अभ्यास किया जा सके। ऐसा नहीं है कि कुतूहल भाव से किसी एक शिविर में आ जाने पर अगले शिविरों में पुनः आने पर कुछ बासीपन प्रतीत हो। प्रत्येक शिविर में, प्रतिपाद्य विषयों की नवीनता होती है। अतः यथासम्भव सब शिविर पधारने-योग्य होते हैं।

वेद-संस्थान, नई दिल्ली में अगला शिविर २८ मई से ३ जून, १९८४ तक होगा। इसके लिए छुट्टी, इत्यादि की व्यवस्था अभी से कर लीजिएगा और यथाशक्य पधारिएगा। 'वेद-सविता' के सब पाठक सादर आमन्त्रित हैं। इस प्रसंग से आप संस्थान और उसके कार्यकलाप को साक्षात् देखकर उसका मूल्यांकन भी कर सकेंगे। इस निकट परिचय से स्नेहसूत्र दृढ़ होंगे, विचार-विनिमय हो सकेगा और सहयोग के नए मार्ग निकलेंगे।

—**हरकृष्णलाल** सचिव, साधना-सदन, वेद-संस्थान, नई दिल्ली

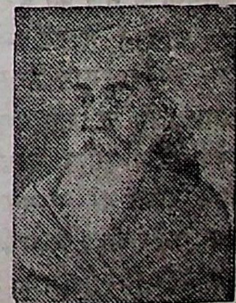
आधुनिक जीवन में तप की अनिवार्यता और उसका स्वरूप

सोमचैतन्य श्रीवास्तव, एम ए, एम ओ एल, शास्त्री
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, डी ए वी कॉलेज, कोरापुट

१. आधुनिक जीवन जैसा दिखाई देता है उसमें व्यक्ति से लेकर विश्व के स्तर तक अशान्ति, दुःख, वैमनस्य, कलह, घृणा, द्वेष, भय, सत्ता और सम्पत्ति के लिए संघर्ष, बलवान् के द्वारा निर्बल का शोषण, विषमता, बेईमानी, भ्रष्टाचार, लोभ, झूठ, स्वार्थ, अहंकार, दर्प, कपट, रोग, भोगाकांक्षा, अतृप्ति, अनास्था, अविवेक, पक्षपात, संकीर्णता, आदि की प्रधानता है। आधुनिक मनुष्य प्रायः आहार (इन्द्रियों के विषय भोग, लोभ), निद्रा (प्रमाद, मोह, अविवेक, श्रम से जी चुराना, उद्यमहीनता), भय (आतङ्क, दबाव, दण्ड और शोषण) एवं मैथुन (काम-रति, सामुदायिक वृत्ति एवं परस्पर प्रतियोगिता), इन पाशविक तथा आसुरी वृत्तियों से प्रेरित होकर ही कर्म में प्रवृत्त होता है। निर्भय और निर्लज्ज होकर उच्छृंखल आचरण, अपरिमित धन-संग्रह, मदिरा-पान, उन्मत्त काम-विलास, येन केन प्रकारेण सत्ता और प्रभुत्व की प्राप्ति, जघन्य कृत्यों का आश्रय लेकर भी अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाना वा उसे नष्ट कर देना, कार्यसिद्धि के लिए लोभ एवं भय की नीति का प्रयोग करना, आदि आज के तथाकथित प्रगतिशील एवं उन्नत जीवन के चिह्न हैं। जीवन की इस अन्धी प्रगतिशील दौड़ में न तो कोई लक्ष्य निश्चित है, न कोई साधनमार्ग। न इसमें धर्म का विचार है, न औचित्य का; न पतन की चिन्ता है, न कर्मफल का भय; न अपनी व कुल की प्रतिष्ठा का विचार है, न मानवता के आहत होने की अनुभूति। संक्षेप में कहें तो आधुनिक जीवन का लक्ष्य है अस्तित्व की रक्षा (जीवन), आजीविका, विषयभोग, सम्पत्ति और सत्ता की प्राप्ति। इसकी प्रेरक वृत्तियां हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं भय।

काम, क्रोध, आदि वृत्तियों का परिणाम होता ही है अज्ञान, दुःख एवं अशान्ति। व्यक्ति, परिवार, समाज, संस्था, राष्ट्र एवं विश्व की प्रवृत्तियों के मूल में जब तक ये काम, क्रोध, मोह, आदि प्रेरक शक्ति के रूप में काम करते रहेंगे तब तक विवेक-युक्त शुभ विचार और आचार की प्रतिष्ठा नहीं होगी और न स्थायी रूप से सुख, शान्ति, स्वास्थ्य एवं समृद्धि की प्राप्ति ही होगी। इस त्रिगुणात्मक सृष्टि में रजोगुण और तमोगुण ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, अज्ञान, आदि के हेतु हैं। वे दुःख, रोग, क्लेश एवं अशान्ति को जन्म देने वाले हैं। सत्त्व गुण ही सुख, शान्ति, प्रसन्नता, चित्त की निर्मलता एवं ज्ञान की प्रतिष्ठा का हेतु होता है। सभी कुविचारों, कुप्रवृत्तियों के मूल कारण रजोगुण और तमोगुण हैं। ये दोनों ही मल वा पाप हैं।

पावन स्मरण



वेद-संस्थान के संस्थापक, इस शती के श्रेष्ठ वेदप्रवक्ता और वेदव्याख्याता, संतप्रवर श्री स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' के वेदवेदि पर जीवनाहुति-समर्पण को ५ मार्च, १९८४ को छह वर्ष पूरे होने को हैं। 'वेदों के परवाने' इन वैदिक साधक का जीवन हम सबके लिए सदा प्रेरणाप्रद बना रहेगा। उनकी सरणि पर चलना जीवन के परम लक्ष्य की ओर संतत बढ़ते रहना है। अपने वेदाचार और अपनी आध्यात्मिक जीवन-पद्धति द्वारा हम उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने योग्य बनें, अन्तर्यामी से यह विनय है।

—**अभयदेव**, अध्यक्ष, वेद-संस्थान

यह सृष्टि कर्मविधान के अनुसार संचालित होती है। आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक स्तर पर जैसे विचार और कर्म होते हैं उनके अनुसार ही व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व को त्रिविध दुःख वा सुख भोगना पड़ता है। कर्मजगत् में हम अपने पूर्वार्जित संस्कारों द्वारा प्रेरित होते हैं। कर्म, संस्कार और वासना का एक चक्र होता है। कर्मों से संस्कार बनते हैं, तो संस्कारों से वासना का जन्म होता है। वासना के जागरित होने पर उसकी तृप्ति हेतु तदनुकूल कर्म के लिए प्राणी चेष्टावान् होता है। रजोगुण और तमोगुण के विचार एवं कर्म पुनः रजोगुण और तमोगुण के विचारों और संस्कारों को दृढ़ करते हैं, तो सत्त्वगुण के विचारों और कर्मों से सत्त्वगुण के संस्कार और विचार बलवान् बनते हैं। तमोगुण को अभिभूत एवं क्षीण करने में रजोगुण समर्थ होता है, तो रजोगुण का उन्मूलन सत्त्वगुण द्वारा होता है। अतः व्यक्ति और विश्व को सुखी एवं शान्त बनाने, सद्गुणों की दृष्टि से विकसित, और चेतना की दृष्टि से उन्नत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति, समुदाय एवं विश्व के जीवन से तमोगुण और रजोगुण के काम-क्रोध-मोहमूलक प्रभावों को दूर करके संस्कार, भावना, विचार एवं व्यवहार के क्षेत्र में सत्त्वगुण की प्रतिष्ठा की जाए। **जीवन में से रजोगुण और तमोगुण को हटाकर उनके स्थान पर सत्त्वगुण की स्थापना करना ही धर्माचरण है, तप है।** इस त्रिगुणात्मक सृष्टि में हमारे व्यक्तित्व की प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इस प्रकृति का अंग होने के कारण, शरीर, इन्द्रियां, प्राण, मन एवं बुद्धि त्रिगुणात्मक हैं। तप द्वारा ही इनमें से तमोगुण और रजोगुण के मल को दूर करना संभव होता है।

२. प्राचीन भारत में राज्यव्यवस्था का लक्ष्य प्रजा को धर्ममार्ग में स्थापित करना होता था। उत्पथगामी के लिए, पक्षपातरहित होकर, न्यायपूर्वक, धर्मानुसार दण्ड देने की व्यवस्था होती थी। राजा वा शासक स्वयं जितेन्द्रिय, तपस्वी तथा धर्ममर्यादा के अधीन रहने वाला होता था। समाज चतुर्वर्णाश्रम की व्यवस्था के अनुसार शासित होता था। व्यक्ति पर समाज की धर्ममर्यादा का नियंत्रण था। ऐसी स्थिति में व्यक्ति, समाज और राज्य (राष्ट्र), तीनों परस्पर सहयोगी बनकर अभ्युदय एवं निःश्रेयस रूप एक ही धर्म-लक्ष्य की ओर उन्मुख हो प्रगति करते थे। सत्त्वगुणप्रधान धर्म की ऐसी व्यवस्था के सर्वत्र रहते हुए, कुमार्गगामी होना वा अनीतियुक्त असदाचरण करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं था। यह स्वप्न-कल्पना नहीं, ऐतिहासिक सत्य है। छान्दोग्य-उपनिषद् (५.११.५) में केकय देश के अधिपति का उद्घोष है कि उसके राज्य में न तो कोई चोर है, न मद्यप; न कोई कदर्य्य है, न लम्पट; कहीं कोई विद्याहीन नहीं है; सब सदाचारी हैं; कि पुरुष वर्ग के सदाचारी होने पर किसी एक भी स्त्री के स्वैरिणी (कुलटा) होने की संभावना का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके राज्य में कोई ऐसा द्विज नहीं था जो नित्य अग्निहोत्र न करता हो। राजा अश्वपति के राज्य का प्रत्येक नर-नारी विद्यायुक्त तथा आचार, विचार एवं व्यवहार में शास्त्र-प्रतिपादित धर्ममर्यादा के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाला था। ऐसे ही धार्मिक रामराज्य की कल्पना तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में की है। ऐसे आदर्श तपस्वी पुरुष और नारी का जीवन्त चरित्र वाल्मीकि की 'रामायण' के राम और सीता के चरित्र में मिलता है। वैदिक धर्मव्यवस्था के ऐसे ही आदर्श से युक्त, आर्य्यों के चक्रवर्ती साम्राज्य के भूमण्डल में विस्तार की कल्पना दयानन्द ने की थी।

पर इस समय, जब विश्व के समाज और राजनीति में अधर्ममूलक असत्य, कपट, द्वेष, अनीति, हिंसा, आदि की प्रधानता है तब जिन लोगों में सात्त्विक प्रवृत्तियों की प्रधानता है तथा जिनमें विश्व में धर्म, सुख, शान्ति, आदि की स्थापना की ललक है, जो मानव की मानवता को तथा मानवजाति को पतन और विनाश से बचाने के लिए सुचिन्तित हैं उन्हें ही व्यक्तिगत रूप से वा सामुदायिक रूप से विश्व में से राग-द्वेष-मोहमूलक रजोगुण और तमोगुण की प्रवृत्तियों को क्षीण करते तथा सत्त्वगुणमूलक धर्म की प्रवृत्तियों को प्रवृद्ध,

सक्रिय और दृढ़ बनाने के लिए प्रबल प्रयत्न करना होगा। समष्टि का आधार व्यष्टि है। सत्त्वगुण की प्रकाशात्मक अग्निधर्मा प्रवृत्तियों का बल बहुत अधिक होता है। निराश होकर उद्यमहीन होने से काम नहीं चलेगा। प्रत्येक के आत्मा में अनन्त, अपूर्व शक्ति है। आत्मशक्ति का आश्रय लेकर, पौरुष करने से ही अपना उद्धार हो सकता है,[1] रजोगुण और तमोगुण की मलिन प्रवृत्तियों को अपने अन्दर से नष्ट किया जा सकता है। व्यक्तियों के सत्त्वप्रधान हो जाने पर समाज तथा विश्व में सात्त्विक प्रवृत्तियों की प्रचुरता हो जाएगी। धर्म, योग एवं अध्यात्म मार्ग, आदि जितनी साधनाएं हैं उन सबका मूल आधार रजोगुण एवं तमोगुण को क्षीण करके सत्त्वगुण की वृद्धि करना है। महाभारत-कार के शब्दों में जो भी कर्म रजोगुण और तमोगुण को नष्ट करने वाले हैं वे सब तप हैं।[2] **तप, ज्ञानप्रकाशस्वरूप है।** अतः आत्मोद्धार के लिए, प्रसन्नता एवं सुख-शांति की प्राप्ति के लिए सबको तप के व्रत की दीक्षा लेकर तपस्वी होना चाहिए।

३. तप वैदिक ज्ञान, जीवन, धर्म एवं संस्कृति का प्रमुख आधार है। अपने चिदंश से ब्रह्म स्वयं तप-रूप है। वह तप में नित्य ही प्रतिष्ठित है। उसका ज्ञानधन-रूप तप का मूल है। तप द्वारा ब्रह्म ने सृष्टि की रचना की, ओंकार-सहित वेदों को प्रकट किया। ऋषियों ने तप द्वारा वेदों को प्राप्त किया। वेदार्थ के रहस्य का साक्षात्कार करने में वे तपोबल से ही समर्थ होते हैं। तप द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है, अमृतत्व की उपलब्धि होती है। ब्रह्म के चैतन्यावभासक तप के तेज से सूर्य, चन्द्र, आदि प्रकाशवान हैं। सारे लोक तप में प्रतिष्ठित हैं। तप द्वारा लोकों की रक्षा तथा भरण-पोषण होता है। तप द्वारा आचार्य, देवगण, एवं पृथ्वी से द्यौ तक के सब लोक तृप्त होते हैं। ब्रह्मचर्य-रूप तप द्वारा देवगण मृत्यु का नाश करते हैं। तप द्वारा ही वे अपनी शक्ति को प्रकट करने में समर्थ होते हैं। ऋषि लोग तप द्वारा दिव्य सुख का आस्वादन करते हैं। असुरों, अरातियों और शत्रुओं का नाश तपोबल से ही संभव होता है।[3] तप सब किल्बिषों का नाशक है। तप कल्याण करनेवाला है, भद्रता का आपादक है। तप ओज, बल, श्रुत, मेधा एवं दीर्घायु प्रदान करता है।[4] ऋषियों ने सारे दिव्य शास्त्र तप का आलम्बन करके ही रचे। संयतात्मा ऋषि तप द्वारा सचराचर त्रैलोक्य का दर्शन (सम्पूर्ण ज्ञान) करते हैं (मनु ११.२३६)। मनु के मत से तप सब मानुषी एवं दैवी सुख का मूल है।[5] तप करने वाला व्यक्ति, समाज, राष्ट्र अनाधृष्य होता है एवं उत्तम गति को प्राप्त करता है। तप-सहित ब्रह्म (ज्ञान), ऋत, सत्य, दीक्षा और यज्ञ की शक्तियां पृथिवी को धारण करती हैं।[6] तप के लिए कुछ भी दुर्लभ और दुर्गम नहीं है। ज्ञान एवं विज्ञान, प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य, लौकिक और

---

१ उद्धरेद् आत्मनात्मानं, मग्नः संसारवारिधौ। योगारूढत्वम् आसाद्य, सम्यग्दर्शननिष्ठया। महाभारत, शान्तिपर्व, १९१. १५; उद्धरेद् आत्मनात्मानं, नात्मानम् अवसादयेत्। भगवद्गीता ६.५

२ प्रकाशस् तपसो ज्ञानं, लोके संशब्दितं 'तपः'।
रजस्तमोघ्नं यत् कर्म, तपसस् तत् स्वलक्षणम् ॥
महाभारत, शान्तिपर्व, २१७.१६

३ तपसा देवा देवताम् अग्र आयन्, तपसर्षयः सुवर् अन्व-अविन्दन्। तपसा सपत्नान् प्रणुदामारातीः, तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् तपः परमं वदन्ति ॥
तैत्तिरीय-आरण्यक १०.६१

४ भद्रम् इच्छन्त ऋषयः स्वर्-विदस् तपो दीक्षाम् उपनिषेदुर् अग्रे।
ततो राष्ट्रम् बलम् ओजश् च जातं, तद् अस्मै देवा उपसन्नमन्तु ॥ अथर्ववेद १९.४१.१
यद् अग्ने! तपसा तप उप तप्यामहे तपः।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ अथर्ववेद ७.६१.१

५ तपोमूलम् इदम् सर्वं, दैवं मानुषकं सुखम् ॥ मनुस्मृति ११.२३४

६ सत्यं बृहद्दतम् उग्रं दीक्षा तपो, ब्रह्म यज्ञः पृथ्वीं धारयन्ति ॥ अथर्ववेद १२.१.१

अलौकिक सामर्थ्य की सिद्धि तप से होती है। तप से सब कुछ सिद्ध किया जा सकता है।[7]

मूल रूप में तप ज्ञान एवं संकल्प का अग्नि है। इसी रूप में वह ज्ञान, सर्जन, रक्षण, पोषण, शोधन, पवित्रीकरण, एवं असुरत्व (अज्ञान) के उन्मूलन का कार्य करता है। तप तपस्वी को सब भद्रताओं के सहित सुख एवं मोक्ष की प्राप्ति कराता है।

४. तप की साधना के दो पक्ष हैं, निषेधमुख और विधेयमुख। हमारे जीवन की धारा शुभ और अशुभ के दो मार्गों से प्रवाहित होती है। रजोगुण-और-तमोगुण-प्रधान आहार, विचार, आचार और व्यवहार की ओर जीवनधारा को प्रवाहित होने से रोकना निषेधमुखी साधना है। निषेधमुखी साधना में, नियामक शक्ति मुख्यतः संयम और निग्रह के रूप में कार्य करती है। विधेयमुखी साधना में जीवनधारा को सदैव शुभ मार्ग की ओर प्रवाहित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें रजोगुण और तमोगुण के विकारों के स्थान पर उनके प्रतिपक्षी सात्त्विक गुणों को धारण कर उन्हें स्थायी बनाने का प्रयत्न किया जाता है, यथा, असत्य को छोड़कर सत्य को, लोभ को छोड़कर सन्तोष को, क्रूरता को छोड़कर करुणा को एवं ईर्ष्या को छोड़कर प्रेम को अपनाने की साधना करना। साधना के आरम्भ में अपने व्यक्तित्व में जो दोष प्रबल हों, पहले उन्हीं एक, दो दोषों को हटाकर उनके प्रतिपक्षी गुणों को धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए। एक बार जब अपनी प्रकृति में दोषों के निष्कासन और गुणों के प्रति-स्थापन की प्रक्रिया आरम्भ होकर दृढ़ हो जाती है तब अपनी प्रकृति का सात्त्विक पक्ष प्रधान हो जाता है एवं शनैः शनैः रजोगुण तथा तमोगुण के अन्य अंश भी निकल जाते हैं। इस तरह अपनी प्रकृति पर, शरीर, इन्द्रिय, मन, आदि पर वशीत्व भी स्थापित हो जाता है एवं उनमें निर्मलता भी आ जाती है। **दोषत्याग एवं गुणग्रहण की साधना द्वारा ही तप का आरम्भ होता है।** पर इस साधना में पूरी ईमानदारी के साथ जागरूक रहकर, निष्पक्ष एवं कठोर न्यायाधीश की भांति, साक्षी भाव से अपनी चेष्टाओं का सतत निरीक्षण करते रहना आवश्यक है। समय समय पर अपनी प्रकृति के गुण-दोष को जांच पड़ताल भी आवश्यक है, ताकि प्रगति का पता लगे। **दृष्टि सदा गुणस्थापन एवं गुणों को वृद्धि करने पर ही रखनी चाहिए।** दोषों के निषेधपक्ष पर दृष्टि रखना ख़तरनाक होता है क्यों कि दोषों के स्मरण से दोष बढ़ते हैं तथा अपनी असफलता का अहसास होने पर कई बार विषाद, निराशा व पश्चात्ताप की ग्लानि के भाव आ घेरते हैं। विषाद, आदि तमोगुण हैं। वे साधना के लिए हानिकर हैं। सदा आत्मविश्वास एवं प्रकृति पर विजय का दृढ़ संकल्प लेकर ही तप की साधना करनी चाहिए। विवेक, अप्रमाद, जागरूकता, सतत प्रयत्न एवं साक्षी भाव के साथ नियामक और न्यायाधीश की दृष्टि लेकर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जीवन से तमोगुण और रजोगुण के संस्कारों, भावनाओं, विचारों, कार्यों और दोषों को प्रबल सुनियोजित प्रयत्न के द्वारा हटाकर उनके स्थान पर सत्त्वगुण को स्थापित करना तप का प्रथम चरण है। इससे जीवन निर्मल, सत्त्वगुणसम्पन्न, धर्मयुक्त, उदात्त एवं आर्य बनता है।

५. तप के मूल में है तपना, कष्ट सहना, सूर्य एवं अग्नि के समान प्रखर तेज से युक्त होना। संसार के प्रायः सब मज़हबों एवं उनकी कर्मकाण्डीय साधनाओं में नाना प्रकार के शारीरिक कष्टसहन को प्रमुख स्थान मिला हुआ है। यह निषेधमुखी साधना है। छोटे वा लम्बे उपवास, केवल दूध, फल, जल वा यवागू पर रहना, एक समय का भोजन, भिक्षान्नभोजन, ऊर्ध्वबाहु हो खड़े रहना, काष्ठमौन धारण करना, चांद्रायणादि कृच्छ्र व्रत करना, जल में निवास वा जल में खड़े होकर जप करना, नग्न रहना, भूमि पर शयन, पंचाग्नि का तापना, परिव्राजक वा भिक्षु होकर घूमना, आदि कृच्छ्र तपस्या के रूप हैं। जब शरीर में जड़ता, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, आदि की प्रधानता हो एवं इन्द्रियविकारों की प्रबलता के कारण मन अत्यधिक चंचल रहता

७ मनुस्मृति ११.२३७-३८

हो तब इनका दमन करने के लिए अल्पकालिक वा दीर्घकालिक अनशन (उपवास) का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। आहार बन्द कर देने पर इन्द्रियविकारों का वेग तो कम हो ही जाता है, शरीर में से तमोगुण और रजोगुण की प्रबलता भी क्षीण हो जाती है। क्षीणबल शरीर और इन्द्रियों पर संयम रखना सुगम हो जाता है। ऐसा विचार करके ही तैत्तिरीय-आरण्यक ने अनशन को श्रेष्ठ तप बताया है—**तपो नानशनात् परम्** (१०.६)। मनु (११ २४१) भी यह स्वीकार करते हैं कि तप शरीर, वाणी (इन्द्रिय) एवं मन द्वारा किए गए पापों का नाश करने में समर्थ है। दुर्बल-शरीर वा रुग्ण व्यक्ति निराहार के बदले अभीष्ट काल तक सीमित मात्रा में जीवन के धारण के लिए केवल दूध, वा फल वा दुग्धफलमिश्रित आहार ले सकते हैं। अनशन वा अल्प अनशन काल में अपना समय आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय, मनन, ईश्वर नाम के जप, आदि में लगाकर सात्त्विक गुण के संस्कारों को दृढ़ करना चाहिए।

जीवन की सब चेष्टाएं शरीर द्वारा होती हैं। भौतिक जीवन में शरीर ही प्रमुख रूप से तमोगुण और रजोगुण के आक्रमण का शिकार होता है एवं व्यक्ति के मानस में रज एवं तम के सुप्त संस्कार शरीर की ही लालसाओं द्वारा व्यक्त होते हैं। शरीर का पोषण आहार द्वारा होता है। बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क साधने वाली उभयेन्द्रियों में रसना, नेत्र, जिह्वा, कर्ण, जननेन्द्रिय एवं हाथ प्रमुख हैं। निद्रा, जड़ता, मलिनता, अश्रद्धा, अविवेकयुक्त कर्म, पर हानि के कर्म, शरीर को क्लेश देना, धूर्तता, शठता, चुग़लख़ोरी, मादक द्रव्यों का सेवन, अपवित्र, दुर्गन्धित, बासी एवं मलिन खाद्य एवं पेय का सेवन, यौन सुख की तीव्र लालसा, कुत्सित बातों का सुनना, बोलना, कुत्सित दृश्यों वा चित्रों को देखने में रुचि, मलिन, निन्दनीय स्थानों में जाना, निन्दित व्यक्तियों का संग, भूत-प्रेत-पिशाच आदि की पूजा, दीर्घसूत्री होना, अकार्य को करना, आदि तमोगुण के लक्षण हैं। क्रूरता, औद्धत्य, अभिमान, दंभ, हिंसा, प्रदीप्त कामनाएं, सौन्दर्य, सम्पत्ति और प्रभुत्व का प्रदर्शन, परुष वचन, बहुत बोलना, जीभ का चटोरापन, पेटूपन, उत्तेजक विषयों में रुचि, चटपटे, मसालेदार, नाना स्वादों वाले खानपान का शौक, साहसिक कर्म, अस्थिर एवं अनियंत्रित जीवनपद्धति, हड़बड़ाहट एवं चंचलता, कामनाओं की अतृप्ति, आदि रजोगुण के लक्षण हैं। शारीरिक स्तर पर तप की साधना का आरम्भ तमोगुण को नियन्त्रित करने से करना चाहिए। अपने शरीर, वस्त्र, आवासादि को नित्य स्नान, प्रक्षालन, मार्जन, आदि के द्वारा स्वच्छ एवं पवित्र रखे। तामस आहार, विहार का सर्वथा त्याग कर दे। स्त्री-पुरुष की रति से सम्बन्धित विषयों का सेवन, वाणी, नेत्रों एवं कानों द्वारा न करे। मलिन बातें न सुने, न बोले। गृहस्थ हो तो शास्त्रमर्यादा के अनुसार काम-सुख का सेवन करे। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरता से पालन करें। गृहस्थ को भी पन्द्रह या बीस वर्ष के गृहस्थजीवन के बाद ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना चाहिए। शारीरिक ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए मन को निरन्तर स्मृति द्वारा ब्रह्म में चरणशील बनाना चाहिए। मूढ़ता, अनास्था का परित्याग करके माता, पिता, आचार्य एवं गुरुजनों के प्रति श्रद्धा और विनयपूर्वक व्यवहार करते हुए उनकी यथा-योग्य सेवा करनी चाहिए एवं पंच महायज्ञों के अनुष्ठानपूर्वक परमात्मा की उपासना नित्य करनी चाहिए। रजोगुण को नियन्त्रित करने के लिए राजस आहार का परित्याग करके आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति को बढ़ानेवाले सात्त्विक आहार का सेवन करना चाहिए। व्यवहार में सब के प्रति नम्रता तथा सौमनस्य का परिचय देना चाहिए। किसी भी प्रकार के दंभ, अभिमान, बल, आदि के प्रदर्शन से बचना चाहिए। रोमांचक एवं उत्तेजक नृत्य, संगीत, सिनेमा, आदि को देखने से बचे। स्वाद पर नियन्त्रण रखे। जीवनयात्रा के लिए हित-मित आहार का सेवन करे। अपकार वा हानि होने पर भी प्रहार और हिंसा कर्म से बचे। योगासनों के द्वारा शरीर की मांसपेशियों और नस-

नाड़ियों की कठोरता को दूर कर उनमें लचकीलापन लाए। प्राणायाम के अभ्यास से प्राणशक्ति की वृद्धि कर शरीर की रोगनिरोधक क्षमता को बढ़ाए एवं शरीर में संचित दोषों को दूर कर आरोग्य का सम्पादन करे। मन, वाणी एवं कर्म में एकता का सम्पादन करके ऋजुता गुण की वृद्धि करे। ऐसा अभ्यास करने पर शरीर में सात्त्विकता की वृद्धि होकर उस पर प्रभुत्व प्राप्त होता है। 'गीता' में देव, द्विज, गुरु और प्राज्ञ की पूजा, शौच, ऋजुता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा की साधना को शारीरिक तप कहा है (१७.१४)। मनु ने तप के जो लक्षण बताए हैं उनमें भी शारीर तप की ही प्रधानता है। मनु (१२.२४४) के अनुसार ब्रह्मचर्य, जप, होम, नियत समय पर शुद्ध मिताहार एवं राग, द्वेष और लोभ का परित्याग तप है। मिथ्या भाषण एवं क्रोध सब प्रकार के तप के नाशक हैं। अतः तपस्वी को सदा सत्य, क्षमा एवं करुणा से युक्त होना आवश्यक है।

६. शारीरिक तप प्राणमय कोष की शुद्धि के बिना पूर्ण नहीं होता। शरीर में शक्ति और गति प्राणों से आती है। प्राणमय कोश में तमोगुण की अधिकता से शरीर में जड़ता, आलस्य, निद्रा एवं रोग-प्रतिरोध की अक्षमता आती है। प्राणों में रजोगुण की अधिकता से श्वास-प्रश्वास में चंचलता आती है, इन्द्रियां विषयलोलुप बनती हैं एवं शरीर में अस्थिरता, उतावलापन और बलोद्रेक होता है। प्राण-संचय द्वारा जब प्राणमय कोष से रजोगुण और तमोगुण के दोष दूर कर दिए जाते हैं तब प्राणों में सात्त्विकता की वृद्धि होने पर शरीर और इन्द्रियां अपनी चंचलता खोकर शान्त और स्थिर हो जाती हैं। शरीर में लघुता, आरोग्य और कांति की वृद्धि होती है, श्वास और प्रश्वास सूक्ष्म होकर धीर एवं अखण्ड गति से प्रवाहित होते हैं। शरीर, इन्द्रियां एवं मन के क्षेत्र से रजोगुण तथा तमोगुण को दूर करने में प्राणायाम के अद्भुत प्रभाव को अनुभव करके ही 'योगसूत्र' के भाष्यकार, व्यास ने प्राणायाम को श्रेष्ठ तप कहा है। प्राणायाम मस्तिष्क और बुद्धि पर से तमोगुण के आवरण को नष्ट करके ज्ञान की दीप्ति को भी बढ़ाता है। इसी लिए मनुस्मृति एवं अन्य धर्म-ग्रन्थों में नित्य की संध्या में तथा प्रायश्चित्त प्रकरण में जप और प्राणायाम के अभ्यास पर विशेष बल दिया गया है। ओंकार का जप भी प्राणों के विक्षेप को शान्त करके दुःख, दौर्मनस्य, आदि का शमन करता है (यो. सू. १.२९, ३१)।

७. प्राणायाम और जप के अभ्यास के द्वारा प्राणों का संयम हो जाने पर प्रत्याहार के अभ्यास द्वारा इन्द्रियों का निग्रह (दम) सुगम हो जाता है। इन्द्रियों के रूप, रस, आदि विषय-भोगों का दुर्निवार आकर्षण मन तथा बुद्धि को भी चंचल बना देता है। किसी एक भी इन्द्रिय के अनियन्त्रित रहने पर उसी के मार्ग से प्रज्ञा का क्षरण होता है। अजितेन्द्रियता सब प्रकार के पाप, अधर्म, अनीति, पतन, रोग एवं दुर्बलता का मूल है। यह सद्वृत्ति, सन्मति, सुनीति एवं सदाचार, आदि सबको नष्ट कर देती है। इन्द्रियों को वश में न रखने वाला न तो एकाग्रता प्राप्त कर सकता है और न किसी कार्य में सिद्धि। इन्द्रियों में मन्दता तमोगुण के कारण, तथा चंचलता रजोगुण के कारण आती है। व्यवहार में कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का ही सबसे अधिक उपयोग होता है। अतः इन्द्रियों के निग्रह को तप का सार माना गया है। विवेक द्वारा इन्द्रिय-भोगों के स्वरूप और परिणाम का चिन्तन करके उनकी अनित्यता तथा दुःखरूपता के दर्शन से एवं वैराग्य द्वारा, अनासक्तिपूर्वक विषयों के त्याग से इन्द्रिय-संयम सिद्ध होता है। इन्द्रियों में वाणी मुख्य है। अनुद्वेजक, प्रिय एवं हितकारी सत्य वचन को बोलना, मित भाषण (जितना आवश्यक हो उतना ही, नपे-तुले शब्दों में यथार्थ कथन), समय समय पर मौन का अभ्यास, अतिवाद तथा वृथालाप का त्याग, आप्त ग्रन्थों का स्वाध्याय एवं प्रवचन, ओंकार तथा अन्य सात्त्विक मंत्रों या ईश्वर के नामों का जप वाणी का तप कहलाता है (भगवद्गीता १७.१५)। सत्य, मित भाषण, स्वाध्याय एवं जप का आश्रय लेकर वाक्संयम सिद्ध हो जाने पर अन्य इन्द्रियों में भी

सात्त्विकता लाकर उन्हें वश में करना संभव हो जाता है। पंचेन्द्रियों को संयम में रखना ही वास्तविक पंचाग्नि तप है। जब लौकिक एवं पारलौकिक विषयों के प्रति इन्द्रियों की तृष्णा समाप्त हो जाती है, एवं राग-द्वेष से मुक्त रहकर आत्मा के नियन्त्रण में रहकर केवल व्यवहार-सिद्धि के लिए शान्त भाव से वे अपना कार्य करती हैं तब इन्द्रिय-संयम को सिद्ध हुआ समझना चाहिए। भक्तिमार्ग का आलम्बन लेकर रागमूलक साधना के द्वारा इन्द्रियों को ईश्वर से सम्बन्धित श्रवण, सेवा, आदि विषयों की ओर प्रेरित करने से तथा ईश्वरकृपा की शरण ग्रहण करने से इन्द्रिय-जय सुगमता से सिद्ध होता है। पतंजलि के योग में तप का लक्ष्य ईश्वर-प्रणिधान है (२.१) तथा योगसूत्र (२.४३) के अनुसार तप शरीर और इन्द्रियों में निहित, रजोगुण और तमोगुण की सब अशुद्धियों को दूर कर उनमें दिव्य योग-सिद्धियों को प्रकट करता है। शौच, संतोष एवं स्वाध्याय तप के सहयोगी गुण हैं।

ईश्वर को कर्मफल का समर्पण करते हुए हो सब तपों को निष्काम भाव से तपना चाहिए। निष्काम कर्मयोग की साधना शरीर, प्राण, इन्द्रिय एवं मन के क्षेत्र का उत्तम तप है। कर्मक्षेत्र में भी आहार, विहार, निद्रा तथा कर्मचेष्टाओं में मध्यमार्ग को अपना कर सात्त्विकता का संपादन एवं ईश्वर का आलम्बन लेना ज़रूरी होता है।

८. आहार के सूक्ष्मांश से मन का निर्माण होता है। अतः आहार का मन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दूषित, मलिन, हिंसादि से युक्त खाद्य एवं पेय के सेवन से मन मलिन और क्रूर होता है। उसकी पवित्रता और संवेदनशीलता कुण्ठित हो जाती है। वह उत्तम एवं उन्नत विचार नहीं कर सकता। मन के मलिन होने पर हमारे विचार, कर्म, व्यवहार एवं परस्पर के सम्बन्ध भी मलिन हो जाते हैं। इन्द्रियों की पवित्रता भी नष्ट हो जाती है। समूचे तौर पर देश की संतति का स्वास्थ्य, बल और चरित्र पतित हो जाता है। चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से मद्य और मांस की लालसा क्षय और उपदंश रोग की प्रवणता को सूचित करती है। निर्बाध इन्द्रिय-विलास एवं रोमांच तथा उत्तेजना से पूर्ण अशान्त जीवनचर्या शरीर एवं इन्द्रियों के बल को क्षीण कर उन्हें रुग्ण कर देते हैं तथा उनकी कार्य्यक्षमता को कम कर देते हैं। इसका व्यापक प्रभाव समूचे मानवसमाज पर पड़ता है। रोग-जर्जर शरीर, दुर्बल इन्द्रिय एवं मलिन मन वाले नर-नारियों की संतान भी वैसी ही विकृतियों को साथ लेकर उत्पन्न होगी। अतः अपने, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा समूची मानव-जाति के हित के लिए शरीर, प्राण और इन्द्रियों के क्षेत्र में तप की साधना व्यापक रूप में करने की ज़रूरत है। प्रशासन होटलों, क्लबों, सिनेमागृहों, रेडियो और टेलिविज़न के कार्यक्रमों तथा पत्र-पत्रिकाओं की गतिविधियों को नियंत्रित कर उन्हें सात्त्विक बना सकता है। शिक्षा-संस्थाओं में आसन, प्राणायाम और इन्द्रियनिग्रह की शिक्षा को अनिवार्य बनाया जा सकता है। भारतवर्ष में तथा विश्व के कई भागों में ऐसी कई जातियां एवं धार्मिक सम्प्रदाय हैं जिनमें मद्य, मांस, मादक द्रव्य और धूम्रपान के सेवन पर अनिवार्य रूप से प्रतिबन्ध है। मानवजीवन जब तक विवेक द्वारा अनुशासित तथा आहार, विहार, चेष्टादि में संयमित और सात्त्विक नहीं होता तब तक सुखी नहीं हो सकता। सुख, शान्ति, प्रसन्नता, पवित्रता, सौमनस्य, सहयोग, सह-अस्तित्व, सेवा, प्रेम, मैत्री, करुणा, ज्ञान, आदि का मूल सत्त्वगुण में ही है।

मन शरीर, इन्द्रिय एवं प्राणों का नेता है। मन में ही पूर्वकृत कर्मों के संस्कार और वासनाएं रहती हैं। मन ही इच्छाओं तथा संकल्प-विकल्पों का आधार है। अतः मन की शुद्धि और संयम के बिना शरीर और इन्द्रियों के तप की सिद्धि नहीं हो सकती। मन की शुद्धि का अभिप्राय यह है कि मन की प्रकृति की संरचना (धातु) में से रजोगुण और तमोगुण के सूक्ष्म अंशों को पृथक् करके उनके स्थान पर सत्त्वगुण के अंशों को प्रस्थापित कर मन की प्रकृति को सत्त्वप्रधान बना दिया जाए। ऐसा करने पर मन कषाय-रहित, निर्मल और शान्त हो

जाता है। शान्त एवं एकाग्र मन में बुद्धि का ज्ञान-प्रकाश पूरी तरह प्रतिबिम्बित होता है एवं ध्येय विषय भी चिर काल तक सुस्थिर रहता है। तप में मन की भूमिका के महत्त्व को स्वीकारते हुए ही जैमिनीय उपनिषद् (३.३४) ने मन को ही तप कहा है। 'महाभारत'-कार के मत से इन्द्रियों एवं मन की निश्चल एकाग्रता ही श्रेष्ठ तप है। मन की शुद्धि और संतोष को ही तप की सीमा तथा अवधि माना गया है।

९. मन की तपस्या के क्षेत्र के कई आयाम हैं। (भगवद्गीता १७ १६-१८) तथा इन सब आयामों में एक साथ साधना करनी पड़ती है। मन की तपस्या के स्वरूप हैं, (१) कामना-त्याग, (२) भावना-शुद्धि, (३) निर्द्वन्द्वस्थिति वा समत्व, (४) संस्कारों का निर्मूलन, (५) संकल्प-विकल्प-रूप विचारों का नियंत्रण (मौन, शान्त स्थिति), (६) एकाग्रता एवं निरोध का सम्पादन।

(१) कामनाओं का मूल एक ओर व्यष्टि-अहं की जीवित रहने की इच्छा से है तो दूसरी ओर इन्द्रिय-भोगों की तृष्णा के साथ है। विषयों की प्राप्ति की कामना इन्द्रियों तथा मन, दोनों को चंचल बनाती है। कामनाओं की पूर्ति वा अपूर्ति से काम, क्रोध, लोभ, आदि की उत्पत्ति होती है, जो संसार में क्लेश, अशान्ति, संघर्ष और दुःख के कारण हैं। विवेक के प्रकाश में कामनाओं के स्वरूप, परिणाम और मूल का विचार करके तीव्र अनासक्ति तथा वैराग्य का आलम्बन लेकर इनका परित्याग करना चाहिए। कामनाओं का समूलोच्छेद अहंकार के परित्याग से संभव होता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्वभाव का त्याग करने से एवं लघुता और विनयभाव का अभ्यास करने से अहंकार क्षीण होता है। अहं-तत्त्व के साथ आत्मा के शुद्ध स्वरूप में भेद का चिन्तन करके अहं के साथ तादात्म्य-बन्धन को तोड़कर आत्मस्वरूप में स्थिति होने पर अहंभाव का लोप होता है। कामना-बन्धन, और अविद्यादि क्लेश का मूल है। इसलिए कामनात्याग को श्रेष्ठ तप माना गया है।

(२) भावना-शुद्धि का अभिप्राय यह है कि मन से रजोगुण और तमोगुण की हिंसा, क्रोध, लोभ, घृणा, मोह, आदि सब भावनाओं और दुर्गुणों को दूर कर उनके स्थान पर दैवी सत्त्वगुणों की स्थापना तथा वृद्धि की जाए। यह जीवन के पुनर्गठन की दीर्घकालिक साधना है, जिसमें विचार, भाव और कर्म के असामंजस्य को दूर कर सम्पूर्ण व्यष्टि प्रकृति में एकता तथा ऋजुता लाकर सत्त्वगुणों की वृद्धि के द्वारा उसका दिव्य रूपान्तर किया जाता है। योगसूत्र में प्रतिपादित यम, नियम एवं मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा (समत्व) के गुणों के अभ्यास से मन का भावक्षेत्र शुद्ध, सात्त्विक, निर्मल, प्रसन्न एवं शान्त बन जाता है। मन की शुद्धि का सबसे बड़ा साधन सत्य है, **मनः सत्येन शुध्यति** (मनु०)। भावना-शुद्धि आन्तरिक 'शौच' का दूसरा नाम है।

(३) परिवर्तनशील संसार की नाना प्रकार की परिस्थितियों में समय समय पर प्राप्त होने वाले शीत-उष्ण, भूख-प्यास, हानि-लाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, आदि बाह्य एवं आन्तरिक द्वन्द्व मन को प्रभावित कर उसे चञ्चल बनाए रखते हैं। विवेक, तितिक्षा, उपरति, अनासक्ति, आदि गुणों के अभ्यास के द्वारा मन को इन द्वन्द्वों से अप्रभावित रखकर सन्तुलित एवं शान्त रखना चाहिए। वस्तुतः आत्मा निर्विकार तथा नित्य होने के कारण सर्वत्र समभाव से अवस्थित है। आत्मा के इस 'सम' रूप का मनन करने एवं इस 'सम' रूप में सतत स्थित होने से मन को 'समत्व' की संतुलित अवस्था प्राप्त होती है। यह साम्य अवस्था मन का सौम्यत्व है। समचित्तता वा समत्व की प्राप्ति होने पर त्रिगुणातीत दशा की उपलब्धि होती है।

(४) मन के दो भाग होते हैं, सक्रिय और निष्क्रिय। सक्रिय और जागरित भाग निष्क्रिय भाग की तुलना में स्थूल एवं अल्प होता है। मन का अधिकांश भाग निष्क्रिय, सुप्त और गुप्त रहता है; इसे अर्धावचेतन वा अवचेतन मन कहते हैं। इसमें सब कर्मों के संस्कार, वासनाओं के बीज तथा अनुभूत भोगों की स्मृतियाँ रहती हैं। इस अज्ञात अवचेतना के गहरे विशाल समुद्र से निकलकर वासनाओं

और संस्कारों के बुलबुले सचेत, जागरित, स्थूल मन के स्तर पर बुलबुले के रूप में फूटते हैं एवं कामनाओं की लहरियों को जन्म देते हैं। हमारे व्यक्तित्व की प्रकृति की जड़ें इनमें छिपी हैं और गढ़ी हुई हैं। स्वप्न, तन्द्रा, दिवास्वाप एवं क्रिया-हीन जागर्ति और धारणा-ध्यान की दशा में ये संस्कार अधिक प्रबल होकर उद्बुद्ध होते हैं और मन को अशान्त किए रहते हैं। जब संस्कारों की अंकुरित होने की शक्ति को नष्ट करके इन्हें दग्ध बीज के सदृश बनाकर इन्हें पूर्णतया निःशेष कर दिया जाता है तब मन पूरी तरह से निर्मल एवं शुद्ध होता है। अविद्यादि क्लेश-मूलक ये सूक्ष्म संस्कार योगसूत्र में वर्णित क्रियायोग (२.१,१०) की साधना द्वारा अल्प एवं क्षीण होते हैं, विवेक-ख्याति-संज्ञक ध्यान (२.११) के अभ्यास द्वारा, दग्धबीज के सदृश, पुनः अंकुरित होने में असमर्थ हो जाते हैं तथा असम्प्रज्ञात समाधि (१.५१) द्वारा सब संस्कारों के निरोध होने पर सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। ओंकार के जप, ध्यान एवं ईश्वर-प्रणिधान के निरन्तर अभ्यास से भी ये संस्कार क्षीण होकर लुप्त हो जाते हैं।

(५) मन का रूप संकल्प-विकल्पात्मक है। संकल्प-विकल्प का प्रवाह जब तक चलता रहता है तब तक मन शान्त नहीं रह सकता। मन की संकल्प-विकल्प की वृत्ति से रहित अवस्था को 'मौन' कहा जाता है। मन के मौन की अवस्था को प्राप्त करने के लिए साक्षी भाव में अवस्थित होकर मन में आने वाले संकल्प-विकल्प को देखते हुए उनके नियंत्रण और निरोध का अभ्यास किया जाता है। नियंत्रण के अभ्यास में केवल वाञ्छित शुभ विचार वा संकल्प उठने दिए जाते हैं। निरोध में संकल्प-वृत्ति का पूरा निरोध होता है। जब मन पूर्णतया वृत्तिरहित होकर निस्तरंग समुद्र की तरह शान्त स्थिति में अवस्थित हो जाए तो उसकी यह स्थिति शान्त, मौन, संकल्पहीन कही जाएगी।

(६) त्रिगुणों के परिणाम की अभिव्यक्ति के तार-तम्य के अनुसार मन की पांच स्वाभाविक भूमियां वा अवस्थाएँ होती हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध। सत्त्वगुण मन में प्रकाश, एकाग्रता और ज्ञान उत्पन्न करता है। रजोगुण उसे सक्रिय एवं चंचल बनाता है। तमोगुण मन में मोह, जड़ता, प्रमाद और अन्धकार उत्पन्न करता है। क्षिप्त अवस्था में मन रजोगुण की अधिकता के कारण बहुत चंचल और सक्रिय रहता है। तमोगुण के आधिक्य से मन मूढ़ (मोहयुक्त, जड़) अवस्था को प्राप्त होता है। विक्षिप्तावस्था में रजोगुण के साथ सत्त्वगुण का भी मिश्रण होता है। अतः इसमें बीच बीच में एकाग्र अवस्था आती रहती है। एकाग्रता एवं निरोध की अवस्थाओं में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। एकाग्रावस्था में केवल कोई एक वृत्ति मन में बनी रहती है। निरुद्ध अवस्था में सब वृत्तियों का निरोध हो जाने से मन अपने वृत्तिहीन शुद्ध स्वरूप में स्थित रहता है। यद्यपि एकाग्रता एवं निरोध मन की स्वाभाविक भूमियाँ हैं, पर इन्हें धारणा, ध्यान एवं समाधि के अभ्यास के द्वारा प्राप्त करना पड़ता है। एका-ग्रता की प्राप्ति के लिए धारणा एवं ध्यान में स्थूल वा सूक्ष्म विषय की किसी एक वृत्ति का आलम्बन करके उसी को मन में अविराम रूप से बनाए रखने का प्रयत्न करना होता है। उस ध्येय वृत्ति को छोड़कर अन्य वृत्तियों का निरोध करना होता है। एक ही वृत्ति जब मन में अखण्ड रूप से चिर काल तक उदित रहती है तब वह सम्प्रज्ञात समाधि वा सबीज समाधि कहलाती है। संप्रज्ञात समाधि चित्त की समाधान वा एकाग्रता की वह अवस्था है जिसमें ध्येय वृत्ति का ज्ञान साधक को सदा बना रहता है। दो वृत्तियों वा विचारों के उदय और अस्त के मध्य में एक ऐसा सूक्ष्म क्षण आता है जब चित्त वृत्तिशून्य होता है। इस विराम क्षण की वृत्तिशून्य अवस्था को यदि अभ्यास द्वारा दीर्घ-स्थायी बनाया जाए तो निरुद्धावस्था की प्राप्ति होती है। असंप्रज्ञात समाधि की प्रक्रिया द्वारा संप्रज्ञात समाधि की वृत्ति और संस्कार का निरोध करने से भी निरुद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है।

ज्ञान-विज्ञान, व्यापार, राजनीति, अनुसंधान, आदि प्रत्येक कर्म में चित्त की एकाग्रता अत्यन्त

आवश्यक है। एकाग्र अवस्था में सब शक्तियों के मन में केन्द्रित हो जाने के कारण, मन शक्ति का महान् पुञ्ज बन जाता है। समाधि का अभ्यास व्यक्ति को सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ एवं सर्वैश्वर्ययुक्त बना देता है। अपनी अल्पज्ञता, निर्बलता एवं विपन्नता को दूर करने के लिए मन की एकाग्रता एवं निरोध का अभ्यास परम मंगलकारी है। चित्तशुद्धिपूर्वक अभ्यास करने से एकाग्रता की साधना में सफलता मिलती है।

१०. तप की चरम सीमा है बुद्धि का शोधन। शरीर-रूपी रथ में इन्द्रियाँ अश्व हैं, मन लगाम है एवं बुद्धि सारथि है। बुद्धि के नियंत्रण में रहकर मन उसके आदेश के अनुसार कार्य करता है। बुद्धि का कार्य है अवधारण (निश्चय)। इन्द्रियों एवं मन द्वारा प्रेषित सूचनाओं के आधार पर यथार्थ ज्ञान का निश्चय करके, बुद्धि अतित्वरित गति से उपर्युक्त चेष्टा करने के लिए मन को प्रेरित करती रहती है। रजोगुण एवं तमोगुण के प्रभाव से बुद्धि का निर्णयात्मक ज्ञान यदि अयथार्थ वा विपरीत होता है तो मन के द्वारा प्रेरित व्यक्ति के कर्म में भूल होती है एवं उसके प्रयोजन की पूर्ति नहीं होती। तमोगुण से आविष्ट बुद्धि की बोध-शक्ति अल्प, मन्द एवं कुण्ठित होती है। वह किसी भी विषय के तत्त्वार्थ को जानने में असमर्थ होती है। उसका ज्ञान प्रायः उलटा होता है। वह अधर्म को धर्म के रूप में, अकार्य को कार्य के रूप में जानती है। जैसे अन्धेरे में आँखों वालों को भी कुछ नहीं दिखाई देता वा अन्धकार की उपाधि के कारण वह रज्जु को भी सर्प, वा ठूंठ को भी चोर मानकर भ्रान्ति का शिकार होता है इसी प्रकार तमोगुण के अन्धकार से आवृत बुद्धि को सब कुछ उलटा दिखाई देता है, तथा उसका ज्ञान विपरीत, भ्रमपूर्ण एवं अप्रामाणिक होता है। रजोगुण से आवृत बुद्धि का ज्ञान अयथार्थ होने के कारण अप्रामाणिक होता है। ऐसी बुद्धि किसी भी विषय को एक समष्टि-इकाई के रूप में ग्रहण न करके अनेक खण्डों के रूप में पृथक् भाव से देखती और जानती है। ऐसे अयथार्थ वा विपर्यय ज्ञान के कारण वह धर्म को अधर्म, एवं कार्य को अकार्य जानकर ग़लत निर्णय ले लेती है। आज के युग में विश्व में तमोगुणी एवं रजोगुणी बुद्धि का ही बाहुल्य है। इसी लिए विश्व का मानवसमाज अनेक खण्डों में पृथक् पृथक् रूप से विभक्त है तथा राग, द्वेष, मोह में लिप्त होकर संघर्षरत है। किसी भी समस्या को पक्षपातरहित होकर सही रूप में देखने, जानने और समाधान करने का सामर्थ्य उसके पास नहीं है। विश्व की समस्याओं का समाधान बुद्धि के शोधन में है, बुद्धि को रजो-गुण और तमोगुण से मुक्त कर सात्त्विक बनाने में है। सात्त्विक बुद्धि ज्ञान के शुद्ध प्रकाश से प्रका-शित होने के कारण, सर्वत्र, पृथक्त्व एवं अनेकत्व में एकत्व का दर्शन करती है तथा उसका प्रवृत्ति-निवृत्तिविषयक ज्ञान यथार्थ, अखण्ड एवं सम्पूर्ण होता है।

बुद्धि के शोधन का मुख्य साधन है ध्यानजन्य ज्ञान;**बुद्धिर् ज्ञानेन शुध्यति।** नित्य स्वाध्याय इस ज्ञान का सहयोगी अंग है। अध्यात्म विषयक शास्त्रों वा गणित, दर्शन, विज्ञान, आदि सूक्ष्म एवं कठिन विषयों के अध्ययन एवं मनन से बुद्धि में सूक्ष्मता, प्रखरता तथा सत्य वा असत्य का निर्णय करने का विवेक उत्पन्न होता है। सदा सत्य और यथार्थ ज्ञान का ही ग्रहण करते रहने से धीरे धीरे तमोगुण एवं रजोगुण दूर होते जाते हैं एवं बुद्धि अधिकाधिक निर्मल, प्रकाशपूर्ण, व्यापक और सूक्ष्म होती जाती है। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा बुद्धि के उपकरण, भौतिक मस्तिष्क का रजोगुण और तमोगुण का मल दूर हो जाता है एवं वह बुद्धि के सात्त्विक प्रकाश को अधिकाधिक ग्रहण करने में समर्थ होता है। निर्विचार-संज्ञक संप्रज्ञात समाधि के अभ्यास से जब बुद्धि और अधिक निर्मल हो जाती है तब उसमें ऋतंभरा प्रज्ञा का उदय होता है, जो अविद्यामलरहित, सत्य एवं शुद्ध ज्ञान को प्रकट करती है (यो.सू. १.४८)। आगे चलकर बुद्धि में प्रातिभ ज्ञान (यो.सू. ३.३३) की शक्ति का उदय होने पर योगी सब कुछ जानने में समर्थ होता है। बुद्धि की शुद्धि की सर्वोच्च अवस्था विवेकख्याति

(यो.सू. २.२६,२७) है। जब पुरुष अपने को बुद्धि के तादात्म्य से पृथक् करके अपने शुद्ध चिति स्वरूप में स्थित हो जाता है तब बुद्धि, पुरुष के प्रतिबिम्ब से रहित होकर, अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होती है। इससे पूर्व वह व्यङ्ग्य पुरुष के प्रतिबिम्ब से युक्त होने के कारण मिश्रित दशा में रहती है। बुद्धि से तादात्म्य होने के कारण पुरुष ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि भावों का अपने पर आरोप करता है और बद्ध अवस्था में रहता है। विवेक-ख्याति द्वारा बुद्धि एवं पुरुष के स्वरूपभेद का पार्थक्यबोधक ज्ञान हो जाने पर योगी सर्वज्ञ एवं प्रकृति के सब भावों (पदार्थों, नियमों, शक्तियों) का अधिष्ठाता हो जाता है (३.४९)।

प्रार्थना, भक्ति, ओंकार का जप, गायत्री मंत्र का अभ्यास, ईश्वर का ध्यान एवं ईश्वरप्रणिधान बुद्धि को रजोगुण एवं तमोगुण के मल से मुक्त कर उसे शुद्ध एवं पवित्र बनाने के उत्तम उपाय हैं।

११. सामाजिक स्तर पर अपने अपने वर्णस्वभाव के अनुकूल धर्म पालन को तप बताया गया है। मनुस्मृति (११.२३५) के अनुसार वेद-ज्ञान का अभ्यास ब्राह्मण का तप है, प्रजा की रक्षा करने में सदा तत्पर रहना क्षत्रिय का तप है, धर्मानुकूल वार्ता-वाणिज्य में लगे रहना वैश्य का तप है, एवं सेवा करना शूद्र का तप है। 'महाभारत'-कार ने भी **तपः स्वधर्मवृत्तित्वम्** कहकर स्वधर्माचरण को सामाजिक तप बताया है। मनु मानवयोनि को ज्ञानप्रधान मानकर उसे श्रेयः की ओर प्रवृत्त करने के लिए वेद के नित्य स्वाध्याय (ज्ञान, विद्या) और तप के संयुक्त अभ्यास पर विशेष बल देते हैं। मनु-प्रोक्त धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, नामक दश लक्षणों वाले धर्म का आधार तप और ज्ञान की साधना ही है। 'महाभारत' में स्थान स्थान पर सामाजिक स्तर पर भावों की संशुद्धि के लिए इन्द्रिय एवं मन के संयम को श्रेष्ठ धर्म (शान्ति. २५१.४) तथा अहिंसा, सत्य एवं अक्रोध को सब आश्रमियों का सामान्य तप (शान्ति १९१.१५) बताकर इनके सेवन पर बल दिया गया है। 'भगवद्गीता' ने सामाजिक जीवन के परिष्कार के लिए आसक्ति एवं कर्मफल को छोड़-कर सात्त्विक यज्ञ, दान एवं तप को करते रहने का आग्रह किया है। छान्दोग्य-उपनिषद् (२.२३.१) के अनुसार धर्म के तीन स्कन्ध हैं—(१) यज्ञ, अध्ययन, दान, (२) तप एवं (३) ब्रह्मचर्य। धर्म के इन तीनों ही अङ्गों का सेवन करना चाहिए। कठसंहिता (३७.१) एवं जैमिनीय-उपनिषद् (१.२८) स्वार्थ एवं आसक्तिपूर्वक स्व-दान को, वित्तदान एवं आत्मत्याग को उत्तम तप मानते हैं। दान की प्रवृत्ति चेतना की संकीर्णता को तोड़ती है एवं सर्वात्मभाव का विस्तार करते हुए व्यष्टि को समष्टि के साथ संयुक्त करती है। यज्ञ का मूल भी व्यष्टि और समष्टि में परस्पर आदान-प्रदान, व्यष्टि का त्याग, उच्च दिव्य जीवन की ओर मानव का आरोहण एवं देवशक्तियों द्वारा व्यष्टि और समष्टि की इष्ट कामनाओं की पूर्ति ही है। शास्त्रों में तप को दीक्षा, सत्य, श्रद्धा, विद्या, ध्यान, कर्म एवं यज्ञ के साथ सम्बद्ध किया गया है। 'दीक्षा' धी (बुद्धि) द्वारा ईक्षण वा आलोचनात्मक विवेकदृष्टि है जो अभीष्ट लक्ष्य को पाने का संकल्प ग्रहण करती है। 'सत्य' समस्त धर्म, भावसंशुद्धि, नैतिक आचार एवं ज्ञान का आधार है। सत्य पर तप प्रतिष्ठित है। सत्य के अवलम्बन से जीवन पवित्र और उदात्त होता है एवं सत्य ब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति होती है। सत्य ज्ञान की समस्त साधना का संचालक है। सत्य में आस्था रखने वाली एवं सत्य को धारण करने वाली बुद्धि की वृत्ति 'श्रद्धा' है। श्रद्धा से साधना के लिए उत्साह मिलता है। श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), शील, एकाग्रता एवं प्रज्ञा, ये पांचों एक दूसरे पूरक, सहयोगी एवं समाधि की स्थिति को प्राप्त करने के अनिवार्य, अमोघ उपाय हैं (यो.सू. १.२०)। तैत्तिरीय-आरण्यक ने आन्तरिक एवं बाह्य अनुष्ठेय धर्म-रूप तपों का संकलन करते हुए, ऋत, सत्य, श्रुत, शांत दान एवं यज्ञ को तप-रूप में सेवनीय बताया है। इन तपों का अभ्यास करने से मानवजीवन ब्रह्म की भांति वर्धनशील, महान्, उन्नत, विस्तृत एवं सुख-युक्त होता है।

(शेष पृष्ठ २१३ पर)

प्रातःकालिक 'तपोयाग' के पश्चात्, अभयदेव के उद्बोधन

१ : तप-उपनिषद् [१४ नवम्बर, १९८३]

घनेव विष्वग् वि जह्य् अ+राव्णस्, तपुर्-जम्भ ! यो अस्म-ध्रुक् ।
यो मर्त्यः शिशीते अत्य् अक्तु-भिर्, मा नः स रिपुर् ईशत ।। ऋग्वेद १.३६.१६

१ (अ-राव्णः) अ-दाताओं का (घना-इव) मानो [लोह] घन द्वारा (विष्वक वि जहि) सर्वतः वि-घात करो ।

२ (तपुर्-जम्भ) संतापक-जम्भ वाले [अग्ने] ! (यः अस्म-ध्रुक्) जो हमारा हननेच्छुक [है], (मर्त्यः यः) मरण-भाग्य जो (अक्तु-भिः) आयुधों द्वारा (अति शिशीते) अतिक्षीण कर रहा है (रिपुः सः) चुनौती देने वाला वह (नः मा ईशत) हम पर हुकूमत न करे ।

आर्य अग्नि का उपासक होता है । आर्यों के शास्त्र वेद हैं । उनमें से ऋग्वेद और सामवेद का तो आरम्भ प्रत्यक्षतः अग्नि से हुआ है । अग्नि तपिष्णु है । वह तपिष्णुता, रिपुसंतापन का प्रतीक है । जीवन एक संग्राम है जिसमें आग्नेय युद्ध द्वारा वृत्र और उसकी सेना को परास्त करना है । जीवन-संग्राम को यज्ञ भी कहा गया है । यज्ञ में अग्नि के नेतृत्व में देव असुरों पर विजय पाते हैं । असुरों पर देवों का अंकुश जब तक रहता है तभी तक सृष्टि का उद्भव और स्थायित्व है । ठीक यही स्थिति पशुता पर विजयेच्छु मानव की है ।

पाप-रिपु हमारे विरुद्ध षड्यंत्र कर रहा है । वह **अति शिशीते,** चुपचाप, धीरे-धीरे, गुह्य रूप से, बड़ा मीठा बन-बनकर हमारी जड़ें कुतरता है ताकि हम अशक्त हो जाएं और वह हमपर ईशन—हुकुमत जमा ले । अतः पाप को और उसके षड्यंत्र को पहचानना चाहिए । पहचानकर, फिर, आग्नेय रूप धारण कर पाप को भस्म कर देना है । सोचो, किसका शासित बनना है, मर्त्य रिपु का, या अमर्त्य मित्र—आत्मतत्त्व का ? वृत्र को मरना तो है ही, आज नहीं कल, कल नहीं परसों । इस जीवन में नहीं, तो अगले में, उससे अगले में । कभी न कभी पाप-रिपु को परास्त होना ही है, करना ही है । उसे **मर्त्य**, मरणधर्मा जानो, और स्वयं को अमृत समझो । मर्त्य रिपु को जीतना ही तो मोक्ष है ।

पाप-रिपु अ-रावन् है । वह हमें अपनी बुद्धि-मानी करने नहीं 'देगा' । वह हमारी बाधा है । उसकी इस राक्षसता—रुकावट-वृत्ति को, रोक-नीति को वैसे चूर-चूर करना होगा जैसे लुहार घन से पीट-पीटकर लोहे को मनचाहा रूप दे देता है ।

अग्नि—आत्मतत्त्व में ही पाप-रिपु को जीतने का सामर्थ्य है । जब वह सिंहवत् अपना जबड़ा खोलता है तो उसमें से आग निकलती है—तेज, ओज, ऊर्जा, वर्चः । **जम्भ**—जंभाई आलस्यनिवारण का संकेत है । कष्टसहिष्णु, कठोर, तपिष्णु जीवन होना चाहिए ।

२ : तप-उपनिषद् [१५ नवम्बर, १९८३]

अस्म-ध्रुक् = शत्रु । हम पर शत्रु का अधिकार न हो । हमसे विद्रोह करनेवाला हमारा शत्रु है । वह **अ-रावन्** हमें नष्ट करने को आतुर है । **ध्रुक्** शब्द में **द्रुह्** धातु है । **ध्रुक्** = मारने की इच्छा रखने वाला । **अस्म** = हमें । **अस्मिता** शब्द इसी **अस्मत्** से बना है । अस्मिता, अर्थात्, मैं हूं, मेरा अस्तित्व है, मेरी सत्ता है—ऐसा भाव । मेरी सत्ता को जो नष्ट करना चाहता है वह मेरा शत्रु है । उस शत्रु को मार डालना है । ऐसा करने में कोई हिंसा नहीं है । इसी अभिप्राय से उक्ति प्रसिद्ध है, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ।'

प्राचीन काल में, कुछ मांसभक्षी लोग यज्ञ में पशुओं की बलि देने लगे । यह मान्यता थी कि जो कुछ ग्रहण करो उसे यज्ञ में आहुत करने के बाद यज्ञशेष के रूप में भोगो । यज्ञ वस्तु को शुद्ध कर देता है । अतः पशुओं की बलि द्वारा मांसाहारी मनुष्य अपने मांसाहार पर यज्ञ का यह आवरण डालने की कुचेष्टा करने लगे । यह भी माना जाता रहा कि जो पशु यहां यज्ञ हेतु काटे जाते हैं वे सीधे स्वर्ग पहुंचकर दिव्य देह धारण करते हैं । अतः यह पाप न होकर धर्म माना जाने लगा । इस सब पाखंड से वेद के प्रसार में रुकावटें आईं । सुरापान करने के लिए सुरा भी यज्ञ में डाली जाने लगी ।

'वैदिकी हिंसा' की मूल भावना यह है कि हमारे भीतर जो पशुवृत्तियां हैं—अहंकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि—उनको समाप्त करना है । बाहर का पशु हमारे लिए अहितकारी ही हो यह आवश्यक नहीं है । लेकिन हमारे अन्दर जो जानवरपन है वह तो हानि ही करता है । वही हमारा शत्रु है । इसी **वृत्र** को समाप्त करना है । अन्यथा, आन्तरिक दैवी शक्ति दबी रह जाएगी, हम आत्मविस्मरणशील हो जाएंगे, हमारा जीवन विकारग्रस्त हो जाएगा ।

हमारी इस देह को **अयोध्या पुरी** कहा गया है । इसे कोई शत्रु जीत न सके । इसी लिए वैदिक पद्धति में मनुष्य को कठोर जीवन जीने की, कष्ट सहने की क्षमता बढ़ाने के लिए पांच वर्ष के मासूम शिशु को गुरु के आश्रम में भेज देने का विधान हुआ ।

(पृष्ठ २११ का शेष)

'महाभारत'-कार ने शांतिपर्व के मोक्षधर्म-पर्व (२७५.१५,१६) में तपोमूलक धर्म-गुणों का संकलन करते हुए कहा है कि ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, ह्री (पाप कर्म से लज्जा), आर्जव, क्षमा, अन्तर्बाह्य शौच, इन्द्रियसंयम एवं आहारशुद्धि का सतत सेवन करने से पाप का नाश तथा तेज की वृद्धि होती है । ऐसे योगी तपस्वी के सब संकल्प सिद्ध होते हैं तथा उसे अध्यात्म विषयक विज्ञान की अधिकाधिक प्राप्ति होती रहती है ।

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ।
शौचमाहारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः ॥
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानमुपहन्ति च ।
सिद्ध्यन्ति चास्य संकल्पा विज्ञानं च प्रवर्तते ॥

आज के युग में सर्वत्र सब स्तरों पर रजोगुण और तमोगुण की प्रवृत्तियों का ही बहुलता से प्रसार देखते हुए एवं विश्व में राग, द्वेष, भय, लोभ एवं मोह की चेष्टाओं की प्रधानता को देखते हुए यह बहुत आवश्यक है कि तप की साधना का व्रत लेकर सब स्तरों पर रजोगुण और तमोगुण के बल को क्षीण कर सत्त्वगुण-रूपी धर्म को प्रवृद्ध और बलवान् बनाया जाए । ऐसा करने से ही सर्वत्र सुख एवं शान्ति की स्थापना होगी तथा सब अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति करने में समर्थ होंगे । अन्त में प्रार्थना है,

सर्वस् तरतु दुर्गाणि सर्वः भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः सर्वमवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

(सबकी विपत्तियां दूर हों, सब भद्र का दर्शन करें, सबको सब अभीष्ट प्राप्त हो तथा सब सर्वत्र आनन्दित हों ।)

देह कष्ट सहने योग्य बन सके, धैर्य और साहस का यह भंडार बने और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहयोग कर सके, इस साधना का नाम तप है। और इस तप में जो जो शत्रु विघ्न-बाधाएं डाल उन्हें समूल नष्ट करने में हिचकना नहीं है।

३ : अश्वों का उपनयन संस्कार [१६ नवम्बर, १९८३]

उपो नयस्व वृषणा तपुष्-पा, उतेम् अव त्वं वृषभ ! स्व+धा-वः।
ग्रसेताम् अश्वा वि मुचेह शोणा, दिवे-दिवे स-दृशीर् अद्धि धानाः॥ ऋग्वेद ३.३५.३

१ (वृषणा तपुष्-पा) [दोनों] वृषा, तपुः के रक्षकों को (उप+उ नयस्व) पास ही ले जाओ।
२ (उत) और (ईम् त्वम् अव) इसे तुम बचाओ (वृषभ स्व+धा-वः) वर्षक ! स्व की धारणा वाले [इन्द्र] !
३ (अश्वा ग्रसेताम्) [दोनों] अश्व ग्रास खाएं।
४ (शोणा) रक्त[वर्ण] दोनों [अश्वों] को (इह वि मुच) यहां वि-मुक्त करो।
५ (दिवे-दिवे) प्रत्येक आलोक में (स-दृशीः धानाः अद्धि) एक जैसे धान खाओ।

आज के प्रवचन का शीर्षक अटपटा सा लगेगा, कबीर की उलटबासी सा। सत्यवक्ता जब बोलता है तो सीधी, खरी बात कहता है जो मन-मस्तिष्क पर सीधे चोट करती है।

उप=पास, नयन=ले जाना। 'उप-नयन' का अर्थ है पास ले जाना। ५ वर्ष की आयु में बालक का उपनयन संस्कार होता है। इससे पूर्व के पांच वर्ष शिशु के लाड़-प्यार के होते हैं। फिर १० वर्ष की आयु तक वह ताड़ना—अनुशासन—शिक्षा का पात्र होता है। गृह में मां शिशु की प्रथम गुरु होती है। इन्हीं आरंभ के पांच वर्षों में मां शिशु में चरित्र के बीजों का आरोपण कर देती है। आगे चलकर तो उन बीजों का विकास-मात्र होता है। चरित्र-निर्माण में मां का बड़ा योगदान होता है क्यों कि उसे दो कुलों की श्रेष्ठताओं का भान होता है; वह चुन चुनकर बालक में श्रेष्ठ गुण भर सकती है। पर माता को शिशु को जो और जैसा बनाना होता है उसके अनुकूल परिवार का वातावरण पिता तैयार करता है। पर जैसे यज्ञ में ब्रह्मा होता है वैसे ही परिवार की ब्रह्मा गृहिणी है। प्रस्तुत मन्त्र भी यज्ञ-प्रसंग का है।

अश्व=तेज़ दौड़ने वाले घोड़े। आज भी गति और शक्ति का मापन अश्वशक्ति से किया जाता है 'हार्स पावर' के रूप में। घोड़ा ऊर्जा का प्रतीक है। वह रजोगुणी शक्ति का समुच्चय है। सत् गुण और तमः गुण में एक ठहराव होता है। तम आलस्य से, तो सत् समझ से स्थिरता पाता है। लेकिन रजोगुण तीव्रता, क्रियाशीलता होता है। इस क्रिया—ऊर्जा का विवेकी जन लाभ उठा लेते हैं, तो अज्ञानी इससे अपनी हानि कर लेते हैं।

हमारे जीवन में जो ऊर्जा है उसका समय रहते सदुपयोग कर लेना है, अन्यथा वह बिखर जाएगी। इसके बिखरने से हम टूट जाएंगे, लक्ष्य से परे हट जाएंगे।

उपो नयस्व=पास ही ले जाओ। किसके पास ले जाएं, कौन इसे सही दिशा और नियंत्रण देगा, इस पर चर्चा कल होगी।

४ : अश्वों का उपनयन संस्कार [१७ नवम्बर, १९८३]

कल जिस मन्त्र की चर्चा चल रही थी उसी का विचार आज भी आगे जारी रखना है। मन्त्र का जो वक्ता है वह है, **विश्वामित्र**, अर्थात्, सबका मित्र। विश्वमैत्री की इस दृष्टि से मन्त्र को समझना चाहिए। सबको मित्र बनाना है। अभी बहुत होंगे जो हमसे रुष्ट हों, उन्हें अपना बनाना है। जब सब मित्र हो जाएंगे तो सबका दुःख सुख हमारा अपना हो जाएगा और हम आपस में जुड़ जाएंगे।

हम मात्र देह नहीं हैं। हम चेतन आत्मा भी

हैं। और, आत्मा की दृष्टि से सब प्राणियों में समान चेतना है। इष्ट चैतन्य दृष्टि का विस्तार करना है और इस विस्तार को परिवार, राष्ट्र और सारे विश्व तक ले जाना है।

हमारी जीवन-पद्धति यज्ञमय हो। इस मंत्र का वक्ता जो विश्वामित्र है वह यज्ञ करनेवाला है। वह इस मंत्र में देवों आह्वान करता है। इन्द्र देव को आमंत्रित किया जा रहा है। इन्द्र के रथ में दो घोड़े हैं, **हरि** नाम के, अर्थात्, हरण करने की क्षमता वाले। ये घोड़े **शोण** हैं, अर्थात्, इनका रंग लाल है, अग्नि के रंग के समान। दूसरे, ये **वृषण** हैं—वर्षा करने वाले, बादल के समान। तीसरी बात इनमें है **तपुस्-पा**=तपिश, आग से, गर्मी से भरे हुए। वर्षा कब होती है, इन्द्र कब आते हैं? जब गर्मी से भाप बनती है, बादल बनते हैं, बादल जल से भरे, भारी हो जाते हैं।

५ : अश्वों का उपनयन संस्कार [१८ नवम्बर, १९८३]

कल से इस मन्त्र की चर्चा चल रही है। यह आलंकारिक रूपक है। पहले इस रूपक को स्थूल रूप से विचार में ले लें, फिर इसकी गहराई में उतरें।

इन्द्र देव को यजमान अपने यज्ञ में घोड़े और रथ सहित आमंत्रण दे रहा है। घोड़े दो हैं। उनका रंग लाल है अग्नि-सा। बादल के समान वे वर्षा करने वाले, अतः भारी हैं, तथा वे ऊष्मा से भरे हुए, तेजस्वी हैं।

घोड़े घास खाएंगे। पर उनका स्वामी इन्द्र **यव**—जौ खाएगा, वह भी भूनकर। इन घोड़ों को खोल देना है ताकि ये घास खा लें और हमारे यज्ञ की रक्षा भी करें।

ये घोड़े दो हैं – निषेध और विधान के। 'हां' तथा 'न', इन दो प्रवृत्तियों के ये प्रतीक हैं। जीवन इन दो में बंटा हुआ है। जैसे, क्या, कब, कैसा बोलना, कब नहीं बोलना, ये दो, वाणी-रूपी घोड़े हैं। इसी प्रकार, अन्य सब इन्द्रियां हैं। इन्द्र की ये दूत हैं। इसलिए इन्हें **इन्द्रियां** कहते हैं। बुद्धि इनकी लगाम है, इन्द्र—आत्मा इनका स्वामी है।

दोनों घोड़ों में परस्पर अनुकूलता होगी तो जीवन ठीक चलेगा। यदि विपरीत दिशाओं में ये गमन करेंगे तो जीवन की दौड़ ठीक से नहीं होगी। हमारा ज्ञान और कर्म परस्पर अनुकूल होना चाहिए। सार को ग्रहण करना चाहिए, यह प्रवृत्ति है। असार को त्यागना निवृत्ति है। प्रवृत्ति—प्रसार अग्नि का कर्म है, तो निवृत्ति—संकोच सोम का गुण है।

हमारे शरीर में जो अन्न जाता है उससे रस और मल बनता है। रस से फिर रक्त, रक्त से मांस, मज्जा, आदि बनते बनते, अन्त में रज-वीर्य बनता है। फिर इनका भी शोधन होता है तो इनसे सोम बनकर अन्त में मन बनता है। इसलिए अन्न का परिणाम मन है। इस मन का नियंत्रण बुद्धि से होता है। बुद्धि—विवेक से असार को नष्ट कर, सार को ग्रहण करनेवाला, मानव का जो पक्ष है वह **इन्द्र** कहाता है।

६ : कालाश्व [१९ नवम्बर, १९८३]

कालो अश्वो वहति सप्त-रश्मिः, सहस्राक्षो अ+जरो भूरि-रेताः।
तम् आ-रोहन्ति कवयो विपश्चितस्, तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा।। अथर्ववेद १९.५३.१

१ (सप्त-रश्मिः) सात रासों [से नियंत्रित हो पाने] वाला, (अ+जरः) जरा-रहित, (भूरि-रेताः) प्रभूत रेतः वाला (कालः अश्वः) काल [रूप] अश्व (वहति) [ब्रह्माण्ड को] वहन कर रहा है।
२ (कवयः) भावनावान्, (विपश्चित्) निष्ठावान् (तम् आ-रोहन्ति) उस पर आ-रोहण कर रहे हैं।
३ (विश्वा भुवनानि) विश्व भुवन (तस्य चक्रा) उसके चक्र [हैं]।

यह मंत्र काल की महिमा को प्रकट करता है। काल परिवर्तन का नाम है। गतिशील रहना उसका काम है। काल से बाहर कुछ नहीं है। हमें काल पर ध्यान देना है। हमारे हाथ में सिर्फ़ वर्त-

(शेष पृष्ठ २२२ पर)

तप का वैदिक स्वरूप

प्रवक्ता : फतहसिंह, एम ए, डी लिट्

१ : भद्र [१४ नवम्बर, १९८३]

भद्रम् इच्छन्त ऋषयः स्वर्-विदस्, तपो दीक्षाम् उप-नि+षेदुर् अग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलम् ओजश् च जातं, तद् अस्मै देवा उप-सं+नमन्तु ॥ अथर्ववेद १९.४१[.१]

१ (भद्रम् इच्छन्तः) भद्र की इच्छा कर रहे, (स्वः-विदः) स्वः को प्राप्त करने वाले (ऋषयः) ऋषियों ने (अग्रे) अग्र [भूमि—स्थिति] में (तपः, दीक्षाम्) तप [और] दीक्षा की (उप-नि+सेदुः) उप-नि-षद्—उप-आसना की थी ।

२ (ततः) उस[उपनिषद्]से (राष्ट्रम्, बलम् च ओजः) राष्ट्र, बल और ओज (जातम्) प्रादुर्भूत हुआ ।

३ (तत्) उसे, (अस्मै) इसलिए, (देवाः) देव (उप-सम्+नमन्तु) उप-सं-नत हों ।

इस मन्त्र की देवता ही **तप** है । पर ऋषि है **ब्रह्मा** । ब्रह्मा स्रष्टा है । उन्हें सर्जन के लिए जो आधार-भूमि अपेक्षित थी उसे मधु और कैटभ पाताल में धर आए थे । सर्जन के लिए, सर्वप्रथम, इस आधार का उद्धार अपेक्षित है । मन्त्र का छन्द है **त्रि-ष्टुप्** । छन्द शक्तिक्षेत्र होता है । त्रिष्टुप्-क्षेत्र का सर्जनात्मक तप नवनिर्माणकर्ता की दृष्टि से कैसा होता है, यह इस मंत्र का प्रतिपाद्य विषय है ।

ऋषियों को भद्र की इच्छा होती है । यह भद्र त्रि-विध है, राष्ट्र, बल, ओज । इस **त्रि**-विधता का संकेत मंत्र के छन्द, **त्रि**-ष्टुप से मिलता है ।

राष्ट्र : पौरस्त्य विषयों के विद्वानों में से एक (पी. एल. वैद्य) को छोड़कर अन्य सब वेद में 'राष्ट्र' शब्द को आधुनिक नेशन, क़ौम वा जाति (बंगला में प्रचलित शब्द) के अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द नहीं मानते हैं । ये दोनों मत अंशतः ठीक हैं । वस्तुतः वेद का 'राष्ट्र' शब्द नेशन वा क़ौम से कहीं व्यापक अर्थ देने वाला है । वेद का नेशन तो **बृहत् सं-वेशनं राष्ट्रम्** है, एक ऐसा विराट् राष्ट्र जिसमें सबका सह-प्रवेश संभव हो । विभिन्न रूप, रंग, भाषा, पूजापद्धति, रीति-रिवाज के मनुष्य जहां समान स्तर से निवास करें वह राष्ट्र है । ऐसा राष्ट्र प्रत्येक मनुष्य के आंतरिक—वैयक्तिक राष्ट्र का प्रतिरूप होता है । 'ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं विरक्षति' (राष्ट्र की वि-रक्षा के लिए राजा ब्रह्मचारी होना चाहिए), इस वेदवचन में सामाजिक राष्ट्र की निर्भरता वैयक्तिक गुण पर सूचित है । सामाजिक राष्ट्र का निर्माण करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्र का जन्म होना चाहिए ।

राष्ट्र के दो रूप हैं, उत्तर, उत्तम । क्रमशः तपोविकास (=गुणाधान) से राष्ट्र का उत्कृष्टतर रूप उभरेगा । पुरुष **पांक्तं छन्दः**, बिन्दु बिन्दु के जोड़ से बनने वाली पंक्ति है । प्रत्येक पुरुष में अनेक शक्तियां भरी पड़ी हैं । इनकी वेद में पांच कोटियां हैं, वसु, रुद्र, आदित्य, विश्व, मरुत । इन्हें 'दैवी विशः'- दिव्य प्रविष्टियां कहा गया है । प्रथम तीन शक्तियां 'मनु' तत्त्व के क्षेत्र में, अर्थात्, मनुष्य के अन्नमय, प्राणमय और मनोमय स्तर पर सक्रिय रहती हैं । अतः यह क्षेत्र ही 'मानव' कहलाता है, साधारणतया । विश्व नामक देव और मरुत इन तीन स्तरों के अतिरिक्त बुद्धि और आत्मा के स्तर तक व्यापक हैं । इन शक्तियों की उपलब्धि पाना है व्यक्ति के जीवन में राष्ट्र का जन्म । **राष्ट्र** शब्द रा अथ वा रास् धातुओं से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है देना । ये शक्तियां देती हैं,—सर्वोपरि शांति देती हैं । सामाजिक राष्ट्र का भी काम है देना । इन शक्तियों का सामाजिकीकरण राष्ट्र है । समाज में प्रत्येक को अन्यों के लिए अपना सहयोग देना है । शिशु जन्म से ही लेने का भाव लेकर आता है; हर वस्तु मुख में डालता है । उसे देना सिखाना—यही राष्ट्रीयता का पाठ है । मनुष्य में 'अहं'-भाव मात्र शरीर-रक्षार्थ है । पर सर्वत्र अहं का ताण्डव रहे तो मनुष्य का पशु से भेद नहीं रहता । तप, साधना का

लक्ष्य है अहं का विसर्जन; यही राष्ट्रनिर्माण है, अर्थात्, विशों—मानवी शक्तियों का परिष्कार। यही वेद का वृत्र है जिसके वध की प्रायः चर्चा मिलती है, जैसे, 'योस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस् तं वो जम्भे दध्मः' में। इसके बिना बल का उपयोग नहीं हो पाएगा, और ओज का तो जन्म ही नहीं होगा।

बल : शरीर, धन, संघटन, विद्या, आदि अनेकविध बल प्रसिद्ध हैं ही।

ओज : ओ से जन्मा हुआ तत्त्व **ओज** कहाता है। ओ=अ+उ। अ=स्थूल शरीर; उ=सूक्ष्म शरीर। स्थूल और सूक्ष्म के संयोग से ओज जन्मता है। सूक्ष्म शरीर की शक्तियों के विकास से स्थूल शरीर को जो प्राप्ति होती है वह ओज है। इधर सूक्ष्म और कारण शरीर के सम्बन्ध से जनित बल राष्ट्र है।

राष्ट्र, बल, ओज, तीनों शक्तियों के समन्वय से 'उत्तम' राष्ट्र बनता है। यह जीव-ब्रह्मसायुज्य की स्थिति है। ब्रह्म आत्मा का निकटतम है। उसे अन्दर ही पाना है। उत्तम राष्ट्र में ब्रह्मानन्द होता है जिसे वेद ने **'सोम'** कहा है। प्रातः, मध्याह्न, सायं सोम का रस निकालना (सवन) होता है। यह यज्ञिय रूपक है। उत्तम राष्ट्र में जीवनयात्रा 'ब्रह्मा का दिन' है। जीव अपने आन्तरिक नवनिर्माण से ब्रह्मा बनता है। इसकी ब्रह्म तक यात्रा के तीन भाग हैं। अन्नमय से आनंदमय स्तर तक आरोहण **प्रातःसवन** है। श्वास, शारीरिक शक्तियां, भावनाएं, और विज्ञानमय कोष-गत आपः, इन चतुर्विध प्राणों के आयाम (शोधन) और ध्यान से भूत और भविष्य के कालातीत मिलन-बिन्दु (सम्+अय=समय) का ग्रहण संभव होने पर, ब्राह्मी शक्तियों रूप 'क्रीडी' मरुत वृत्रवध होने पर दीप्तिमय क्रीड़ाएं करते हैं।

तप तो अपने स्वार्थ के लिए राक्षस भी करते हैं। पर भद्रेच्छु का जो तप है वह ऋषि ही करते हैं। ब्रह्मा के तप की उपलब्धि भद्रेच्छु को ही होती है। यह ब्राह्म तप भौतिक जीवन में उतरना चाहिए ताकि 'तपः पुनातु पादयोः' हो। ब्राह्म तप पैरों में उतरेगा तो फिर 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' होगा। पैरों में तप उतरने से समाज के साथ सेवा, स्नेह, आदर, प्रेम, श्रद्धा, सहयोग, सहानुभूति का दान-आदान करने के लिए व्यक्तिमात्र दौड़ पड़ेगा; यही तो शू-द्रत्व है। इस आशु-द्रवत्व से 'राष्ट्र' का जन्म होगा। राष्ट्र का स्वप्न देखने, अनुभव करने के लिए सबको शूद्र बनना होगा।

राष्ट्र मध्यवर्ती केन्द्रबिंदु है जिसके पूर्ववर्ती तीन बिन्दु हैं क्रमशः ऋत, सत्य, तप। और राष्ट्र के परवर्ती, परिणाम-रूप बिन्दु हैं श्रम, धर्म, कर्म। व्यक्तिगत, सामाजिक, उभय साधना का आधार राष्ट्र है। वैदिक तप का केन्द्र—लक्ष्य राष्ट्र है; वह तप जिसके अभीद्ध होने, धधकने पर ऋत और सत्य जन्मते हैं। ऋत=ठीक समय पर ठीक ढंग से ठीक काम करना; यह व्यावहारिक सत्य है।

संकल्पपूर्ति के लिए बाधाओं को सहन करने का धैर्य होना तप का स्वरूप है। शैशव से ही बच्चों में यह संस्कार डाला जाना चाहिए। तभी हमारा श्रम, धर्म, कर्म राष्ट्रार्थ समर्पित हो सकेगा। हमारा कर्म 'धर्म'-रूप हो क्यों कि हम सब 'धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र' में खड़े हैं। धारक कर्म समाज को धारे हुए हैं; तदर्थ ही श्रम उचित है।

इसके विपरीत, आसुर जीवन का केन्द्रबिन्दु 'स्व' अथ वा स्वार्थ—अहंकार ('अहं शरीरं' का भाव) होता है। माली, सुमाली, माल्यवान्, रावण, कुंभकर्णों का स्वकेन्द्रित तप विषयभोग, धन को सर्वस्व मानकर होता है। राक्षस का केन्द्रबिन्दु 'स्व' भद्र को 'भला' न रहने देकर 'भद्दा' कर देता है।

ऋषि 'स्वः' के ज्ञाता होते हैं, जब कि राक्षस 'स्व' को ही जानते हैं। मन-प्राण-शरीररूप स्व का ज्योतिर्मय व्यक्तित्व 'स्वः' कहाता है जो स्व का मूल आधार है और मनुष्य के विज्ञानमय स्तर में स्थित है। स्वः स्वर्ग है। वैदिक तप इस 'स्वः' से भी ऊपर का तत्त्व है। 'रामायण' में ऐसे स्वर्गस्थ तपस्वियों का उल्लेख है जो अपने शरीर का भक्षण करने मर्त्यलोक में आते हैं। अगस्त्य के दर्शन से उनका निस्तार होता है। यही संकुचित स्वः,

शरीरकेन्द्रित होने से, 'गीता' के अनुसार, क्षीण-पुण्य को मर्त्यलोक में ला पटकता है। स्वशरीर-भक्षण, अर्थात्, देहाभिमान का भक्षण न हुआ तो स्वर्गाप्ति भी व्यर्थ है। **अग**=स्थिर तत्त्व का **स्त्यान**=विस्तार करना ही देहाभिमान का भक्षण है। एतदर्थ पैरों में शूद्रत्व का अवतरण होना चाहिए ताकि आत्मा को विशः—प्रजाओं—समाज तक वितत किया जा सके। मानव को 'अग-स्त्य' बनना चाहिए।

आत्मसिद्धि के लिए तप करना मात्र वैदिक तप नहीं है। राष्ट्रकेन्द्रित यदि नहीं हैं तो सारी सिद्धियां व्यर्थ हैं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहंभाव की पोषक हैं। राष्ट्रनिष्ठा से ही अहंविसर्जन शक्य है। अतः राष्ट्रनिष्ठा परम कर्तव्य है।

वैदिक 'अग्र' के लिए भाषा में पर्याय-शब्द खोजना अशक्य है। **अग्र** देशकालातीत स्थिति है। कोषत्रय से ऊपर, विज्ञानमय में उस 'वर्तमान' का आरंभ होता है जो भूत-भविष्य का सेतु है और कालातीत है। यही सूक्ष्मातिसूक्ष्म आनंदमय कोष है, जो वेद का 'अग्र' है। इस आत्म-भूमि पर तप को दीक्षा बनाना चाहिए। श्रम-रूप तप द्वारा सर्व को, परिवर्तनशील जगत् को व्याप लिया जाता है; **श्रमात् तपसः सर्वं समानशे**। 'सर्व' सरणशील—परिवर्तनशील तत्त्व को कहते हैं; इसमें अनुप्रविष्ट तत्त्व 'विश्व' कहाता है। **दीक्षा** शब्द में **दी** धातु उड़ने और चमकने अर्थ में है। उड़ने—ऊपर उठने और चमकने की **ईक्षा**—इच्छा ही 'दीक्षा' है। अग्रभूमि पर उड्डयन ज्योतिर्मयता से ही संभव है। तप को ज्योतिर्मय होने, उड्डयन करने के संकल्प में परिणत—उदात्त बनाना चाहिए; यह साधना ही 'उप-नि-षद्'=उपासना है।

इस साधना से राष्ट्र, बल, ओज का जन्म होता है। सच्चा 'बृहत् राष्ट्र' तभी संवेश्य बनेगा जब प्रत्येक व्यक्ति में ये तीनों जन्में। जब व्यक्ति में पंच देवशक्तियों के विकास से राष्ट्रजन्म होगा तभी बल और ओज से युक्त, सामाजिक राष्ट्र बनेगा।

'नेशन' शब्द नेटस् (**natus**) रक्त, और जन्म का संकेत करता है। यूरोपीय 'नेशन'-वाद अन्य संस्कृतियों को नष्ट करनेवाला रहा है, पर वैदिक 'राष्ट्र'-वाद देता है, छीनता नहीं है। नेशनवाद पुलस्त्य-वाद है, तो राष्ट्रवाद अगस्त्य-वाद है। पुल-स्ति (पुरस्ति) तो पुर्—शरीर—अहं का स्त्यान—विस्तार है; इसकी संतान ब्राह्मण भी हो तो राक्षस होती है। वेद का अगस्त्य-वाद 'विश्व-मानुष'-वाद है, आत्मभावमय राष्ट्र है जहां 'सर्व-भूतेषु आत्मानं' का दर्शन होता है।

३. तृतीय प्रवचन : [१६ नवम्बर, १९८३]

भद्र शब्द में धातु है **भदि**, जिसका अर्थ है 'कल्याण-सुख'। 'कल्याण' शब्द में **कल्ल्** धातु अव्यक्त शब्द का, तो 'यान' अंश गति का वाचक है। अतः अव्यक्त शब्द की ओर उन्मुख गति का जो सुख है उसे 'भद्र' कहते हैं। अन्न-प्राण-मन का स्तर व्यक्त है। मनुष्य का आनंदमय व्यक्तित्व 'अव्यक्त' है। मध्य में है व्यक्ताव्यक्त विज्ञानमय स्तर। आनंदमय स्तर का शब्द '**अव्यक्त शब्द**' है। यही 'अग्र' भी है। कल्याणसुख का ही नाम है आनन्द। इस आनन्द—**भद्** की ओर जो **र**—ले जाए वह भद्र है। **सुख** प्रिय होता है। अग्रभूमि पर पहुंचना श्रेष्ठ सुख है। मार्जन-मन्त्रों में शिरः (भू) से शिरः (सत्यं) तक अपिधानकोष-वत् सात चक्र हैं। भूः का भद्र शिर में निहित है। वह **पुनातु**—पवित्र (चलनी) में छने, छनकर स्थूल तम भौतिक स्तर तक उतरे। भूः=स्थूल शरीर। भुवः=सूक्ष्म शरीर—मन। स्वः=विज्ञानमय। इन तीन व्याहृतियों का केन्द्र **महः**=हृदय है। यहां तक व्यक्त जगत् है जिसे लेकर मनुष्य जन्मता है जो उसके द्वारा कृत नहीं (अ-कृत) है। भूः और भुवः चित् हैं, स्वः अ-चित् है। अगली तीन व्याहृतियां 'कृत' हैं, परिश्रम, पुरुषार्थ, साधना से साध्य हैं। भद्र की **जनः** अभिव्यक्ति के लिए नाभि-भाव (न+भीः, 'पर' से भय का अभाव) आवश्यक है। 'यशाः जने असानि'—त्यागवृत्ति द्वारा समूह में यश प्राप्त होता है। सेवा, प्रेम; मान देने से भद्र की जनः-अभिव्यक्ति (व्याहृति) होती है। प्रेम से ही अभय-त्वं सम्भव है।

पाद-केन्द्र में भद्र का 'तप'-रूप संपन्न होता है। पादों से आशुगन्ता—शूद्र बनकर, हम जन जन में जाएं। फिर 'सत्यं' का चक्र पूरा हो जाएगा और मनुष्य का अतिवैयक्तिक स्वरूप प्रकट हो जाएगा कि 'मैं' ही परिवार, समाज, विश्व हूं। यह अतिमानसिक स्तर मनुष्य का अव्यक्त स्वरूप है। 'भूः'-व्यक्तित्व अपने १२ सींगों (१० इन्द्रिय, मन, अहं) को त्यागकर, कल्याणसुख पाने के लिए, मनुष्य को एकशृंगी बनना होगा 'अग्र'-भूमि पर। यह एकशृंगिता ही योग की एकाग्रता है, चित्तवृत्तिनिरोधरूप।

इस 'सत्यं'-भूमि पर मनुष्य का तप ब्राह्म होकर उसे ब्राह्मणत्व प्रदान करता है। तपः द्वारा, शूद्रत्व द्वारा ब्राह्मणत्व, ब्रह्मप्राप्ति इष्ट है। भूः से सत्यं के चक्र में ब्राह्मण का बीज क्रमशः शूद्रत्वातिमान द्वारा पूरा ब्राह्मण बनेगा। पर यदि हम अपने शूद्रत्व से विरत हो जाएंगे तो ब्राह्मण-शिशु की मृत्यु हो जाएगी। शूद्र द्वारा शूद्रत्व त्यागने पर ब्राह्मणत्व भी मरेगा, अर्थात्, समाज-निरपेक्षता अध्यात्म की मौत है।

शं शांति का स्रोत है। यह 'शान्ति' शं का वह रूप है जो क्रियामय मानवी आयाम (यजुः), में व्यक्त होता है। ज्ञानमय स्तर (ऋक्) पर शं की अभिव्यक्ति 'शंताति' कहाती है। भावनामय स्तर (साम) पर शं की संज्ञा 'शंताता' है। इन तीनों रूपों का समाहार अव्याकृत स्तर (अथर्व) पर 'शंति' कहाता है। अथर्व त्रिगुणातीत वेद है। इसका हड़प्पा की मुद्राओं में अंकन एकशृंगी पशु के रूप में किया गया है। 'एकशृंग' एकाग्र स्थिति 'राष्ट्र' है। एकशृंगी पशु बनने पर ही 'क्षेत्रिय' रोग से मुक्ति सम्भव है; यही राष्ट्रीय एकात्मता यज्ञ है। इसके लिए जीवन की पद्धति योगमय होनी चाहिए। अन्यथा 'शं' की ओर भोंकने की वृत्ति (शं-बुक्क=शंबूक), शं के प्रति विरति, सेवापराङ्मुखता से, तपः-रूप शूद्रत्व के त्याग से ब्राह्मणबीज का विनाश हो जाएगा। ऐसे शूद्र का घात ही इष्ट है।

४. चतुर्थ प्रवचन : [१७ नवम्बर, १९८३]

पिछले प्रवचनों को कुछ श्रोताओं ने क्लिष्ट पाया। अतः आज प्रकारान्तर से पुनर्विचार किया जाए।

मानव के व्यक्तित्व को मात्र विश्लेषणात्मक अध्ययन ('व्याकरण') द्वारा नहीं समझा जा सकता। ऐसे अध्ययनों के समुच्चयमात्र से कुछ अधिक ही है मानव। वेद की दृष्टि पूर्णवादी दृष्टि है, वैशेषिक—गुणपरक दृष्टि है। मनुष्य माता से अपना पूर्व व्यक्तित्व लेकर जन्मता है; फिर वह अपने 'उत्तर' व्यक्ति की मीमांसा आरम्भ करता है। 'तप' को भी पूर्ण की दृष्टि से समझना चाहिए, एकांगी दृष्टि से नहीं। १) शिशु जन्म से, सर्वप्रथम धीरे-धीरे कर्म के क्षेत्र में बढ़ता रहता है। २) फिर वह धर्म के क्षेत्र में बढ़ता है, अर्थात्, अपने स्वभाव के अनुकूल, धारक तत्त्वों का संचय और विपरीत तत्त्वों से परहेज़ करता है। ३) फिर मनुष्य 'श्रम', अर्थात्, धर्मपूर्वक कर्म करने लगता है। श्रम शारीरिक और मानसिक, दो प्रकार का होता है। श्रमशक्ति का कर्म और धर्म में विनियोग होता है। ४) श्रम से व्यक्ति अपने अपने 'राष्ट्र' का निर्माण कर लेता है। यहां तक का यह चतुर्विध आरोहण ऋषि, राक्षस, सब करते हैं, कर सकते हैं। ५) पर राष्ट्र के निर्माण के लिए एक उच्चतर (अभीद्ध) तप भी चाहिए, जिससे ६) ऋत, और ७) सत्य उत्पन्न होंगे। यह उच्चतर तप 'शौद्र तप' है जिससे ब्रह्म तत्त्व का चयन किया जाता है **(तपसा चीयते ब्रह्म)**। तप द्वारा शरीर ब्राह्म हो जाता है। मन की गहनतम गहराई (हृदय) तक तप ऋत सत्य द्वारा पहुंचने से ब्राह्म मन पाकर मनुष्य ब्राह्मण बनता है।

यह ब्राह्मणत्व मनुष्यमात्र में बीज(शिशु)-रूप में विद्यमान है। ब्राह्म बीज की पक्वता के लिए मन के हृदय तक पहुंचना होता है। और इसके लिए मनुष्य को शूद्र बनना चाहिए। शूद्र बनने के लिए **पद्भ्यां**—सबसे जा-जाकर अन्यों से जुड़ना चाहिए। अन्यथा ब्राह्मण-रूप शिशु की

मृत्यु हो जाती है। यदि शूद्र-व्यक्तित्व स्वधर्म को छोड़कर, अपने ही ऐकान्तिक, संकुचित, स्वार्थमय श्रेय के लिए प्रयत्नशील हो जाए, व्यक्तिगत स्वार्थ की ख़ातिर सामाजिक दायित्व को छोड़ बैठे तो ऐसा शूद्र तो एक ऐसा श्वान है जो वास्तविक 'शं' को पहचान ही नहीं पा रहा और उस पर भोंक रहा है। ११वीं शती में अप्पय दीक्षित ने, और वर्तमान शती में पुनः अरविन्द ने यही बात कह की सामाजिक मुक्ति में ही व्यक्तिगत मुक्ति है। पहले द्रविण, फिर ब्रह्मवर्चस मिलता है। द्रविणोपार्जन समाज में रहकर, समाज से जुड़कर, समाज-सेवा से ही संभव है। पर यह जड़ धन तो कृष्ण द्रविण है। शुक्ल द्रविण सेवा से प्राप्य आत्मिक सुख है। इस प्रकार, कर्म द्वारा मनुष्य सबसे जुड़ सकता (**आ-यु**) है। मनुष्य की जो पंच दैवी शक्तियां हैं वे समाज स्तर पर भी अभिव्यक्त हों तो परिपूर्ण राष्ट्र का उद्‌भव होगा।

एक आदर्श राष्ट्र के 'तप' से ऋत की और सत्य की उपलब्धि होती है। ऋत=ठीक समय पर ठीक ढंग से ठीक काम करना। सत्य=यथार्थ शाश्वत सत्य—ज्ञान। कर्म, धर्म, श्रम, राष्ट्र, तप, सत्य—ये सब वैदिक तप के रूप हैं जिनसे 'यज्ञ' का स्वरूप बनता है, वह यज्ञ जो **अध्व-र**, ब्रह्म-मार्ग पर साधक को अग्रभूमि पर्यन्त ले जाता है। महातप वा महायज्ञ के दो शरीर हैं, अर्क और अश्वमेध। 'अर्क' आंतरिक तप है, यौगिक साधना। 'अश्वमेध' बाह्य तप है। 'राष्ट्र' अश्वमेध का बृहत् रूप है। इस उदात्त स्थिति पर शंबूकत्व का नाश होगा, जो राम—ब्रह्मतत्त्व द्वारा ही सम्भव है।

५ : पंचम प्रवचन [१८ नवम्बर, १९८३]

कल्याणकारी—अव्यक्त सुख अथ वा **भद्र** वेद है, 'ब्रह्मवीर्य' है। यह मनुष्य की परम उपलब्धि, उसके पुरुषार्थ की परा काष्ठा है। 'सोम' वा 'इन्दु' भी इसी के नाम हैं। यह आनन्दकोष-गत स्थिति है, जो गूंगे के रस जैसा अव्यक्त होने से 'नि'—नितरां, नितान्त तत्त्व (नि-गम) है। इस आनन्द का व्यक्त स्तर पर अवरोह 'आ-गम' है। व्यक्त स्तर पर इससे अनेक रूप हो जाते हैं—**भद्राणि**, जो 'वेद'-दृष्टि से त्रिवेद (ऋक्, यजुः, साम) हो जाते हैं। अथ वा कहें कि सोम 'पवमान' (क्षरणशील) होकर शतधार, सहस्रधार हो जाता है। यही वेद का वृष्टि तत्त्व है जो ऋग्वेदीय नवम मण्डल की पावमानी सोमवृष्टि के रूप में, विभिन्न देवों के **वृषा, वृषभ** जैसे विशेषणों, आदि नाना प्रकार से वेद में अभिव्यक्त हुआ है।

इस आनन्दावरोह का साधन है तप। तप 'दीक्षा' बनकर, 'वेद'—'अग्र'भूमि पर पहुंचकर त्रिवृत् 'ब्रह्मवीर्य' बनता है ज्ञान, क्रिया, आनन्द रूपों में। अवरोह की अनेकता में, ज्ञान-प्रमति, क्रिया-प्रमति, आनन्द-प्रमति क्रमशः अग्नि, इन्द्र, सोम देव बनते हैं। पर एकावस्था में वे तीनों आत्मा की 'जात-वेदाः' स्थिति में लीन रहते हैं, जात-वेदाः=वेद जिससे प्रादुर्भूत हुआ।

तप का प्रथम साधन अग्नि (ज्ञान) है; अतः उसे 'तपिष्ठ' कहा गया है। अग्नि पर खड़े इन्द्र के उदर में सोम है, अर्थात्, ज्ञानाधार पर विद्यमान क्रिया का फल है आनन्द। इस प्रकार इन तीनों ज्योतियों का एकत्र संवेशन करना चाहिए। तप का आरम्भ स्थूल शरीर के स्तर से होता है पर उसकी परिणति ब्रह्म के **भद्र** पर है। ऋत, सत्य, श्रुत, शांत, दम, शम, दान, यज्ञ, भूः, भुवः, स्वः, ब्रह्म, इत्यादि सब 'तप' के रूप हैं। भूः, भुवः, स्वः, ब्रह्म, चार सीढ़ियां हैं, तप का सार रूप। **भूः**= भवति=becoming, परिवर्तनशीलता। यह जागति है, कर्ममय इन्द्रप्रमति है, अथ वा इन्द्राग्नी (इन्द्र-प्रधान जोड़ा इन्द्र, अग्नि का) है। परिवर्तक शक्ति है प्राण। यह 'प्राणमय तप' है। **भुवः**=मनोमय-कोश-गत सूक्ष्म परिवर्तन, जो धारणरूप 'धर्म' बनता है। भूः की उपलब्धि धारण-रक्षण है। **स्वः**=विज्ञानमय-कोश-गत 'श्रम', अथ वा धृत का विनियोग। यह आध्यात्मिक श्रम ब्रह्मचर्य से

आरम्भ होकर संन्यास पर्यन्त वितत है। अतः स्वः आधार है **'आ'-श्रमों** का। **ब्रह्म**=आनन्दमय-कोश-गत भद्र, वेद, निगम। इसी ब्रह्म के चर्य से प्रत्येक आत्म-राजा अपने अपने राष्ट्र का वि-रक्षण कर रहा है। अग्नि, इन्द्र, सोम, तीनों वेद में 'राजा' कहे गए हैं, एक ही तत्त्व के तीन रूप होने से। यह एक तत्त्व ही 'एक', 'अद्वैत', 'पर' है। अवर स्तर के विभिन्न तपों द्वारा वस्तुतः ब्रह्म का ही चयन क्रमशः अभीष्ट है; **तपसा चीयते ब्रह्म।** अंदर, बाहर, सर्वत्र तप की, मानो, एक एक ईंट को चिनना होता है। तप की, आठ ईंटें मानी गई हैं जो अग्नि के आठ रूप हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियों, अथ वा ५ कर्मेन्द्रियों, अथ वा ५ प्राणों के साथ मनः, अहंभाव को जोड़कर तीन स्तरों पर जो सात सात के तीन सप्तक बनते हैं वे तो मानव का 'पूर्व' व्यक्तित्व बनाते हैं जो वह मां की कोख से लेकर जन्मता है। तप द्वारा इस सप्तक-त्रय में ब्रह्म-आत्मा का 'योग' करने से मानव का 'पर' जन्म होता है, जिससे वह 'द्विज, दिव्य, दैव्य जन' बनता है। यह आत्मा 'महः' है, 'समुद्र अर्णव' है। इसी आत्मिक स्तर पर देवों के जन्म होते हैं, अहं-वृत्र का वध करके इन्द्र महाभिषिक्त होकर महेन्द्र बनता है और सप्त सिंधुओं में शुद्ध आपः के प्रवाह खोलता है।

तप द्वारा अग्नि का नीचे भूः से ऊपर स्वः तक चयन—आरोहण हो, और फलतः ऊपर से सोम का वर्षण—अवतरण हो, इसी का प्रतीक है सोम का त्रि-सवन।

६ : षष्ठ प्रवचन [१९ नवम्बर, १९८३]

आरोहण को वैदिक शैली में 'अर्क' कहा गया है। यह व्यक्तिगत विकास है। व्यक्ति के सामाजिक पक्ष का विकास 'आक्रमण' अथ वा 'अश्वमेध' कहा गया है। पर विकास की चरम, पूर्ण परिणति दोनों विकासों के मेल में है; इसी 'योग' से ही प्रभुदर्शन परिपूर्ण बनता है।

शरीर द्वारा कर्मचक्र आरम्भ करके मानव समाज के संपर्क में आता है। अतः तप का प्रथम चरण कर्मशुद्धि है। तत्पश्चात् ही भाव, ज्ञान, आदि की शुद्धियां सम्भव हैं। तप के द्वारा अग्नि-रूप शिशु 'प्रवतो-नपात्' (ढाल पर न लुढ़कने, फिसलने वाला) बनकर आरोहण करता है। कर्म-शुद्धि के बाद, स्थूल प्राणमय तप होता है। फिर मानस तप होता है जिससे मन अपनी ऊष्मा—संताप को विसराकर **चन्द्र, शांति** बनता है। फिर है बौद्धिक तप जो विज्ञानमय कोष में सूर्य को प्रकट करता है। इसी कोश में, आगे आपोमय तप होता है जिससे आत्मज्योति का प्रसार नाना देवों के उद्भव के रूप में होता है। इस स्थिति में 'अपां नपात्' (ज्योतियों का पुत्र, ज्योतिष्पुंज) हो जाता है। फिर आती है 'अग्र'-भूमि जो देश-कालातीत है; यहां ब्राह्म तप होता है।

'आक्रमण'-गत अग्नि 'सहसोनपात्' है। सह=साथ, 'सहस्य' अन्यों के साथ समाज में ही संभव है। यह अग्नि का सहस्य है। इसके वर्धन से आंतर अग्नि के नाना रूप और निखर जाते हैं। एतदर्थ 'नियम' के अंगों का अभ्यास अभीष्ट है, जब कि 'आरोहण'-गत तप के लिए 'यम' के अंगों का अभ्यास विहित है।

वैयक्तिक और सामाजिक, उभयविध तप वैदिक परंपरा में मान्य रहा। भद्र जीवन के लिए तप और दीक्षा, दोनों चाहिएं। बाद में, भारतीय परम्परा में तप के ये दो पक्ष पृथक् हो गए। सामाजिक तप की उपेक्षा से भारतीय साधक व्यक्तिनिष्ठ होते गए और भारतीयता में यह घुन लग गया।

तप में बाधक तत्त्व को भी पहचानना चाहिए। तप के लक्ष्य भद्र—कल्याणसुख की बाधा है **दुरितानि**। तप दुरित-निवारण होता है। दुरित हमारे शत्रु हैं, अहं-अहि के सपोले हैं। 'दिव्य जन'—अव्यक्त आत्मा ही इन्हें मारता है। अहंवृत्र का वध सेवा, **इदं न मम** से ही सम्भव है, केवल व्यक्तिगत साधना से नहीं। अतः 'इदं न मम'-रूप यज्ञ ही 'श्रेष्ठतम कर्म' है। पराधिकार

की रक्षा, अथ वा सेवा में लगें, स्वाधिकारचिंता न करें। यह त्यागभाव यज्ञ द्वारा अहं का विगलन करता है। इस यज्ञ से अश्व का मेधन होता है। हमारे बहिर्मुखी, कालतत्त्वानुगत जीवन का आरम्भ जिस मनोमय कोश से होता है उसकी वृत्तियों को **मेध्य**—पवित्र करने का साधन सेवा ही है। इससे ही, मेध्य बनकर 'अश्व' वृत्तियां 'गौ' बनेंगी, अर्थात्, आंतरिक दौड़-धूप के बजाय शनैः शनैः आत्मोन्मुखी होकर आरोहण आरम्भ करेंगी। वेद 'गो-अश्व' जैसे विचित्र पशुविशेष की कल्पना करता है। अश्व अवरोह-प्रवण होता है। वह आरोह-प्रवण होकर गौ बनता है।

वैदिक तप कितना समाजसापेक्ष है यह इससे भी स्पष्ट है कि संन्यासी के लिए समाज से ज़ुड़े रहने के लिए सतत भ्रमण, अ-निकेतनता का विधान है। संन्यासी विचरणशील, आशु-द्रुति-वान्—शूद्र बने ताकि उसमें अहं-अहि न पनपने पाए। शूद्र तीनों वर्गों से ऊपर, वर्णातीत है। सच्चा शूद्र बनना ही वैदिक तप का स्वीय रूप है।

(पृष्ठ २१५ का शेष)

मान का एक एक क्षण एक एक करके आता है। भूत हमारी थाती है। भविष्य का हमें भान नहीं है। हम सिर्फ़ वर्तमान के पल में जीते हैं। काल तो तीव्रगामी घोड़ा है जो ब्रह्म-रूपी रथ में जुड़ा है। सारा ब्रह्माण्ड इस रथ पर रखा हुआ है। इसके पहिये ये समस्त भुवन हैं।

मन्त्र कहता है, रथ पर नहीं, घोड़े पर सवारी करो। क्यों कि, पहिये और रथ तो घोड़े के पीछे विवशता में खिंचे चले जाते हैं। यह भी हो सकता है कि रथ पहिये समेत टूट फूट जाए। अतः घोड़े पर सवार होना है, अन्यथा हम घोड़े की टापों के नीचे, या फिर पीछे रहकर नष्ट हो जाएंगे।

इस घोड़े पर कवि और ज्ञानी ही चढ़ पाते हैं। कवि, अर्थात्, जो भावों से भरे हैं, जिनके हृदय पवित्र, दयायुक्त, भक्तिमय हैं वे कालाश्व पर चढ़ सकते हैं। भाव विचार से भी उत्कृष्ट होते हैं तथा विचार से पहले हैं। ज्ञान और भाव में, अन्ततोगत्वा, भाव विजयी होते हैं। **विपश्चित्** का अर्थ है ज्ञानी। ज्ञान, अर्थात्, विचारों का पक्ष। विचार सत्य, प्रखर और निर्भय हों। विचारों की शुद्धि के लिए स्वाध्याय और सत्संग हैं। मनुष्य की महानता सर्वप्रथम भाव से है, फिर विचार से, फिर कर्म से। मनुष्य की पहचान उसके भाव, ज्ञान और कर्म से होती है।

अगला साधना-शिविर

वेद-संस्थान, सी २२, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली ११० ०२७ में सोमवार, २८, मई, '८४ से रविवार ३ जून, '८४ तक होगा।

शिविर में पधारने के इच्छुक महानुभाव और महिलाएं तारीख़ें नोट कर लें और इन तारीख़ों को शिविरार्थ निकाल पाने की व्यवस्था अभी से सोच रखें।

आत्मिक शान्ति, बौद्धिक भोजन, मानसिक तृप्ति, जीवन में उत्साह, समस्याओं का समाधान, पाने के लिए वर्ष में एक बार तो साधना-शिविर में पधारा ही कीजिए।

आपका प्रिय वेद-संस्थान क्या, कैसा कार्य कर रहा है, इससे परिचय भी इस प्रसंग से आप पा सकेंगे। परिचय से स्नेह प्रगाढ़ होगा, सहयोग की अनेक धाराएं फूटेंगी।

अपने पधारने की सूचना यथाशीघ्र दें। आवश्यक सूचनाएं मंगाकर पंजीकरण करा लें।

—हरकृष्णलाल

सचिव, साधना-सदन, वेद-संस्थान, नई दिल्ली

रात्रिकालिक सभा में अभयदेव के प्रवचन

१ : 'तप' द्वारा तप [१४ नवम्बर, १९८३]

तपसा तप्यध्वम् । तप द्वारा तुम सब तपो ।

भगवान् का यह आदेश है यजुर्वेद में । यजुर्वेद कर्म और यज्ञ का वेद है । यज्ञीय कर्म द्वारा हमें तप को साधना है । ऐसे साधक को ही इस देश ने उच्च माना है । देहपीड़ा का प्रदर्शन जो ढोंगी जन करते हैं वह तप नहीं है ।

वैदिक सिद्धांत में सप्त सोपान प्रसिद्ध हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् । सात का भारतीय संस्कृति में बड़ा महत्त्व है । सात क़दम साथ चलने वाला मित्र हो जाता है । सात क़दम अथ वा सात फेरे से पति-पत्नी हो जाते हैं । इस्लाम में सातवें आस्मान का ज़िक्र है तथा ईसाई-मतानुसार, सात दिनों का; छह दिनों में सृष्टि-रचना करके सातवें दिन भगवान् ने विश्राम किया था । बुद्ध पैदा होते ही सात क़दम चले थे । हमारी देहरचना में पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं छठा मन है, तो सातवीं है बुद्धि । अहंकाररहित जो विवेक है वही तो है प्रज्ञा । इस प्रज्ञा-तप से सब सन्त तपस्वी हुए ।

राजा की दो नीतियां होती हैं, सज्जनों के प्रति अनुराग, तो दुष्टों के लिए प्र-ताप । एक शब्द है **सं-ताप ।** साधारणतया 'संताप' का अर्थ किया जाता है, दुःख, शोक, कष्ट । 'सम+ताप' का अर्थ है सम्, अर्थात्, एक करनेवाली वह शक्ति जिसके ताप से द्वैत मिटता हो । एक वैदिक ऋषि हुए हैं, सान्तपन, अर्थात्, जो सारे विश्व को आत्म-अनुभुति द्वारा एक जाने, 'वसुधैव कुटुम्बकं' की दृष्टि रखे । संताप एक तो स्वयं का दुःख है । दूसरे, संताप है लोक के दुःख में सन्तप्त होना । तप की यहां यही स्थिति है ।

वैदिक साहित्य में तीन शब्द प्रसिद्ध हैं, काम, तप, श्रम । श्रम की सबसे नीची स्थिति है सेवा । सेवा से ऊपर है श्रम । किसी उदात्त भावना से लोककल्याण के लिए रचनात्मक कर्म करना, यह जो तप है वह है श्रम । **'श्रमेण तपसा सृष्टा'** । तप का दैहिक रूप है श्रम । श्रमिक को **शूद्र** कहा गया है । शूद्र बहुत महान् होता है । शु=आशु, शीघ्र + द्र=द्रवित होना । शीघ्र द्रवित होने वाले को शूद्र कहेंगे । श्रम से ऊपर है परिश्रम । परि, अर्थात्, चारों ओर से श्रम, चहुंमुखी तप । यह है प्राण के स्तर का तप । परिश्रम से ऊपर है आश्रम । 'आ', अर्थात्, परिपूर्ण । इस श्रम से बाहर मोक्ष भी शेष नहीं बचता । चारों आश्रम इसी पर आधारित हैं । सब आश्रमस्थ जन अपना कर्तव्य ठीक ढंग से ठीक समय पर करते रहें, इस तप को मानस तप, या ब्राह्म तप कहेंगे ।

तप की तीन स्थितियां हैं—तामस, राजस और सात्त्विक । तम आलस्य, प्रमाद, अहंकार और अंधकार को बढ़ाता है, दुर्व्यवस्था फैलाता है । रज में उत्तेजना और चंचलता है । इनको दबाकर, मारकर जो ऊंचा उठना है वह है सात्त्विक तप । यह सात्त्विक तप जब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में आता है तो ज्ञान, शान्ति, प्रकाश और आनन्द से भर देता है । इसे ब्राह्म तप कह सकते हैं । इस तप से सबका हित होता है ।

१५ नवम्बर, १९८३ स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' के ८५वें जन्मदिवस की वेला में श्री जगदीशचन्द्र शर्मा 'शैलेन्द्र' का विशिष्ट तपस्वि-चरित-स्मरण

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' का तपोमय जीवन

संतप्रवर स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' का जीवन अनवरत श्रम एवं तपस्या का एक ज्वलन्त उदाहरण है। वे श्रेष्ठ वेद-व्याख्याकार तो थे ही, उत्कृष्ट वेदोपदेशक भी थे। वे जीवन-भर सभी की भलाई के लिए कार्य करते रहे। वे लोक-कल्याण की भावना से अभिभूत होकर घर से निकल पड़े और २९ वर्षों तक निरन्तर लोक-मंगल में रत रहते हुए समाज की वेदि पर ही बलिदान हो गए। उनका तपोमय जीवन साधकों एवं समाज-सेवकों के लिए प्रेरक रहा है; उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को भुलाना असम्भव है। ऐसा दीदावर सदियों के बाद पैदा होता है,

हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है,
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा।

मनु, शंकर और दयानन्द की परम्परा में ही स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' भी हुए, जिन्होंने भारत को कुसंस्कारों, कुरीतियों और अन्ध विश्वासों से छुड़ाने हेतु स्तुत्य प्रयास किए। भारत में ही नहीं, विदेशों में भी निरन्तर भ्रमण करके वे वेद-प्रचार करते रहे—अनेक अवरोधों और विपरीत परिस्थि-

---

(पृष्ठ २२३ का शेष)

तपोनिष्ठ 'विदेह' का तप [१६ नवम्बर, १९८३]

प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुर् इह भूयासम्। यजुर्वेद २६.२

(देवानाम्) देवों का, (दक्षिणायै दातुः) दक्षिणा-हेतु से दाता [—समाज] का (प्रियः) प्रिय (इह) यहां (भूयासम्) मैं होऊं।

कल, 'विदेह'-जन्मगांठ-वेला में समयाभाव से मैं मौन रह गया। अतः अपनी बात आज कहूंगा।

मंत्र में कहा है, हम देवों के और समाज के प्रिय बनें। सब प्राणी स्नेह चाहते हैं। कोई घृणा, नफ़रत नहीं चाहता। साधक की भी यही चाह है। यह तब ही होगा जब हम समाज को और देवों को चाहेंगे। हम प्रत्येक वह कार्य करें जिससे समाज का और देवों का हित हो। ऐसे ही कल्याण-कार्य को यज्ञ कहते हैं। यही **तप** है।

जो धर्म को जाने, माने और करे वह तपस्वी है, महापुरुष है। वही **आस्तिक** है। जो अस्तित्व का धर्म निभाए वह आस्तिक है। हमारा, हम जीवात्माओं का धर्म तो 'चेतना' है। चेतना तो पशु में भी है पर उसे इसका भान नहीं है; हम मानवों को इसका भान हो सकता है। अतः हम उच्चतम स्थिति तक पहुंच सकते हैं, अपना और समाज का उत्थान कर सकते हैं।

स्वामी 'विदेह' जी का यही तो स्वप्न था। इसी के लिए उन्होंने वेद, जो सब ज्ञानों का मूल ज्ञान है, उसका सन्देश घर घर पहुंचाने का बीड़ा उठाया था। इसी के लिए वेद-संस्थान की स्थापना उन्होंने की थी। वैदिक संस्कृति, वेद की भाषा और वेद के सन्देश का लाभ मानव-मात्र तक पहुंचे यह विराट् लक्ष्य था उनका। हमारा किसी मत-सम्प्रदाय से कोई विरोध वा संघर्ष नहीं है। हम सब तो एक हैं। लड़ाई तो हमें अधर्म से, पाप से करनी है। वेद सबको सुख, शान्ति, आनन्द देने के लिए है।

स्वामी जी ने तीन बातों पर विशेष बल दिया था। एक, चरित्र पर। मानव चरित्रवान् बने, नैतिकता का विकास हो। दूसरे, आध्यात्मिकतामय हो जीवन हमारा। तीसरे, वेद को अतिसरल करके जन जन तक पहुंचाना। इन तीनों के लिए उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। बहुत कार्य इस दिशा में वे कर गए। उनकी प्रेरणा से अभी बहुत कार्य हम सबको करना है। ऐसा करना ही उन्हें श्रद्धांजलि होगी।

तियों को पार करते हुए वे अपने जीवन की आख़िरी सांस तक वेदप्रचार में रत रहे। उन्होंने लगभग ८० ग्रन्थों की रचना की, वेदों के मन्त्रों की सरल व्याख्या भी वे जीवन-भर करते रहे तथा अन्त में सहारनपुर में प्रवचन-मंच पर ही वेद-वेदि में अपनी आहुति दे दी। वे महर्षि थे।

गीता के सत्रहवें अध्याय में तप का उल्लेख किया गया है— शरीर, मन और वाणी के तप की व्याख्या की गई है। देव, गुरु और ज्ञानियों के पूजन, पवित्रता, सरलता, संयम और अहिंसा को शरीर-सम्बन्धी तप कहते हैं,

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शौचम् आर्जवम् ।
ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।

मन की पवित्रता, प्रसन्नता, शान्ति तथा चंचलता के त्याग को मन का तप कहते हैं,

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनम् आत्म-विनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिर् इत्येतत् तपो मानसम् उच्यते ।

सत्य, प्रिय एवं हितकर भाषण, शास्त्रों का पठन और जप का अभ्यास ही वाणी-सम्बन्धी तप है,

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय-हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।

स्वामी जी के जीवन में किसी भी प्रकार के तप का कहीं कोई अभाव नहीं है।

श्रद्धेय स्वामी जी का जन्म १५ नवम्बर, १८९९ को उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ ज़िले के क़स्बा, टप्पल में हुआ। उनका बाल-नाम चैनसुखदास था, जिसे २७ वर्ष की आयु में बदलकर उन्होंने अपना नाम विद्यानन्द रख लिया। उनका कविता का उपनाम पहले 'आनन्द' था, जिसे बाद में बदलकर 'विदेह' कर लिया। पितामह पं. पीताम्बरदास तथा पिता पं. देवीप्रसाद थे। माता शोभादेवी थीं। संयोगवश, स्वामी दयानन्द सरस्वती की माता जी का नाम भी शोभा देवी ही था।

१४ वर्ष की आयु में उनका विवाह गोमती जी से हुआ तथा विवाह में ही उन्होंने प्रथम ईशभक्ति-परक उपदेश दिया। उनकी विचारशक्ति तथा तर्कशक्ति को देखकर लोगों को आश्चर्य हुआ। मैं तो कहूंगा कि यही स्वामी जी के तपोमय जीवन का शुभारम्भ था।

उन्होंने एक शिक्षक के रूप में अपनी सेवा-यात्रा आरम्भ की। वे खैर, दिल्ली और अजमेर में शिक्षक रहे। इसके पश्चात् आयुक्त-कार्यालय (अजमेर) में कार्यरत रहे। तत्पश्चात् पुलिस-सेवा में प्रविष्ट हुए तथा ३० वर्ष के सेवा-काल में १५ वर्ष आबू, ८ वर्ष अजमेर तथा ७ वर्ष इन्दौर रहे। उल्लेखनीय है कि उन्होंने पुलिस-सेवा में रहते हुए भी वेदाध्ययन एवं वेदप्रचार किया, जो उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक भी जारी रहा।

समाज को गिराने वाली बातों का स्वामी जी ने सदैव डटकर विरोध किया तथा जो उन्हें सही लगा उसका सदा ही निर्भीकतापूर्वक समर्थन किया। मन्दिर या मस्जिद न जाकर मन को ही तीर्थ मानने का सन्देश दिया। अज़ान लगाने, घड़ियाल बजाने और मूर्तियों पर फूल, फल और जल चढ़ाने का भी उन्होंने विरोध किया। कपड़े रंगने, तिलक लगाने और सिर मुंडाने से ही कोई संन्यासी नहीं हो जाता, यह भी स्पष्टतः बतलाया। आनन्द का स्रोत तो हमारा मन है। अतः मन की शुद्धि ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। 'विदेह-गीतांजलि' में उन्होंने निम्न पंक्तियों के माध्यम से अपना यह सन्देश दिया,

ना मैं मन्दिर, मस्जिद जाऊं,
ना मैं काशी, काबा जाऊं,
हृदय तीर्थराज में मैंने,
सकल मनोरथ पाए,
मैंने प्रियतम हृदय बसाए।

ना मैं घोष अज़ान लगाऊं,
ना घण्टा घड़ियाल बजाऊं,
थिरक थिरक अन्तःतारों से,
अनहत स्वर सरसाए ।

स्वामी जी के जन्म के समय, भारत परतन्त्र था तथा देशवासी, गुलामी के शिकंजे में जकड़े हुए चीत्कार कर रहे थे। स्वामी जी ने उन्हें पुकारा,

अरे, जवानो ! क्या खोते,
भोगों में ही भव्य जवानी,
क्या 'विदेह' से नहीं सुनोगे,
मातृभूमि की दुःखद कहानी ।

* * *

खाना पीना मौज उड़ाना,
जीवन इसका नाम नहीं है,
वह जीवन 'विदेह' धिक्कृत है,
जिसे देश का काम नहीं है ।

१९४३ के दुष्काल ने उन्हें अत्यधिक आन्दोलित कर दिया था । इस दुष्काल में लगभग डेढ़ करोड़ लोग मारे गए । नारियों पर निर्लज्ज बलात्कार हुए । 'हजारों हिन्दू देवियां वेश्यावृत्ति धारण करने पर मजबूर हुई ।'—'भूखी दुर्बल स्त्रियों के साथ कलकत्ते के फुटपाथों पर और अस्पतालों में जो निर्लज्ज बलात्कार हिन्दुओं और मुसलमानों ने किए और सैनिक छावनियों में अंगरेज़ सिपाहियों के लिए व्यभिचार के जो अड्डे खुले उन्हें पढ़-पढ़कर मैं फूट-फूटकर रोया करता था' । [**विदेह-गाथा,** पृष्ठ ८९] स्वामी जी उस समय पुलिस-विभाग में सेवारत थे । लेकिन फिर भी उन्होंने वाइसराय को व्यक्तिगत पत्र लिखा । इसी प्रकार, गांधी और जिन्ना को भी लिखा तथा पीड़ितों की सहायता के लिए धन भी भिजवाया ।

अंगरेज़ों के प्रति उनके मन में कोई आदर नहीं था, तथा जब भी उनके किसी वरिष्ठ अंगरेज़ अधिकारी ने उन्हें तिरस्कृत करना चाहा, उन्होंने दृढ़तापूर्वक उसका प्रतीकार किया ।

मार्शल, रेलवे-पुलिस-अधीक्षक थे । एक दिन उन्होंने स्वामी जी से कहा, 'यह पुलिस-आफ़िस है, गांधी का घर नहीं है ।'

'मैं यह अच्छी तरह जानता हूं', स्वामी जी का उत्तर था । तब मार्शल ने शासकीय सेवकों के आचरण संबंधी नियमों (Govt. servants Conduct Rules) का हवाला दिया । किन्तु स्वामी जी ने खादी का परित्याग करने से निर्भीकता-पूर्वक साफ़ इन्कार कर दिया, तथा उनकी दृढ़ता देखकर मार्शल भी ढीला पड़ गया ।

एक घटना और सुनिए । पुलिस-महानिरीक्षक, कूपलैंड वार्षिक निरीक्षण हेतु अजमेर आए । स्वामी जी ने उनसे, आबू के लिए तबादले की प्रार्थना की । वे नाराज़ होकर बोले, तुम आर्यसमाजी हो और खादी भी पहनते हो, अतः वहां तबादला नहीं होगा । स्वामी जी को इतना क्रोध आया कि उन्होंने त्यागपत्र लिखकर कूपलैंड के पास भिजवा दिया । त्यागपत्र में लिखा था, 'क्यों कि आफ़ीसर्ज़ मेरे धार्मिक विश्वासों और कार्यों में हस्तक्षेप करते हैं, मैं उसे सहन नहीं कर सकता हूं और सरकारी मुलाज़मत से, यह अपना त्यागपत्र पेश करता हूं ।' कूपलैंड ने बुलाया और समझाया कि धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप तो वे नहीं करना चाहते, किन्तु खादी पहनने के कारण उन्हें कांग्रेसी अवश्य ही निरूपित किया जाएगा । कोई सामान्य व्यक्ति होता तो हड़बड़ा जाता । लेकिन, जानते हैं, स्वामी जी ने क्या जवाब दिया ? स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग कोई जुर्म नहीं है—'क्या आप स्वयं अपने देश को प्यार नहीं करते हैं और अपने देश की ही बनी वस्तुएं अपने काम में नहीं लेते हैं ?····स्वदेश-प्रेम और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग यदि अपराध है तो उसके लिए मेरे साथ आपको भी समान दण्ड मिलना चाहिए ।' उनकी निर्भीकता और सिद्धान्त-प्रियता का यह एक ज्वलन्त प्रमाण था । १५ दिन बाद स्वामी जी का आबू तबादले का आदेश आ गया ।

राबर्ट्सन रेलवे-पुलिस-अधीक्षक था । स्वामी जी के एक मातहत, नूरूल्ला ख़ां ने उन्हें धोखा देकर उनसे ग़लत तरक्क़ियों के आदेश जारी करा दिए । बाद में स्वामी जी ने जब पाया कि ग़लत आदेश जारी हो गए हैं तो स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि ग़लतियों का कारण उनकी सद्भावना-पूर्ण भूल थी । किन्तु जब राबर्ट्सन ने उन्हें बेईमान कहा तो स्वामी जी ने वह शब्द वापस लेने का अनुरोध किया । वह स्वामी जी को अपने कमरे में ले गया और भीतर से दरवाज़ा बन्द कर दिया । उसकी आदत थी कि जिस पर वह नाराज़ होता था, दरवाज़ा बन्द करके उसकी ख़ूब पिटाई करता था ।

द्वार बन्द करके अपना कोट उतारने लगा। स्वामी जी ने भी अपना कोट व साफ़ा उतारकर एक तरफ़ रख दिया और घूंसा और सीना तान-कर उसके मुक़ाबले खड़े हो गए।

वह बोला, 'क्या तुम मुझे मारोगे ?'

'बेशक, तुम मुझे हाथ लगाओ, मैं भी जवाब दूंगा।'

'तुम समझते हो तुम्हारी इस हरकत का परिणाम क्या होगा ?

'परिणाम की मुझे परवाह नहीं।'

राबर्ट्सन पीछे हट गया। स्वामी जी को बैठने का इशारा किया और फ़ाइल पढ़कर लिखा, 'Thanks, please issue revised orders.' [धन्यवाद, कृपया पुनरीक्षित आदेश जारी करें।] ऐसा अदम्य साहस स्वामी जी जैसा तपस्वी ही दिखला सकता था।

स्वामी जी के अदम्य साहस का एक और किस्सा सुनाने की आज्ञा चाहूंगा। आवागढ़ के राजा सूर्यपालसिंह ने बुलाया। स्वामी जी चले गए। भोजन आया तो बासी और बेकार था। स्वामी जी ने भोजन कर लिया, लेकिन कहला भेजा कि अब खाना ताज़ा आना चाहिए। इस पर भी, बासी और बेकार खाना आया, अतः स्वामी जी ने राजा को बुलवाया। राजा आया। स्वामी जी ने कहा कि वे [स्वामी जी] उसके बार-बार बुलाने पर आए हैं; नौकरों से बचा रद्दी खाना भेजना उचित नहीं है।

राजा बोला, 'कैसा भी बड़ा संन्यासी क्यों न आए, मैं उसके साथ ऐसा ही बर्ताव करता हूं, उसके संन्यास की परीक्षा लेने के लिए। स्वामी जी ने कड़ककर कर कहा, 'तुम मूर्ख आदमी हो। संन्यासियों का अपमान करते हो। तुम होते कौन हो संन्यासियों और विद्वानों की परीक्षा लेने वाले ? तुम आदमी हो या पागल कुत्ते हो ?' राजा घबरा गया और चरण छूकर चलता बना।

स्वामी जी के जीवन में ऐसे प्रसंगों का कोई अभाव नहीं है, किन्तु सामान्यतः वे बड़े तपोनिष्ठ, मधुर एवं शांत थे। उनकी मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व मैंने वेद-संस्थान नई दिल्ली में ही उनके दर्शन किए थे। प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी, पूज्य स्वामी जी की वाणी मधुर एवं अपनत्वमयी थी। प्रथम दर्शन की वेला में वे मुझे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे लगे। उन्होंने मुझे बड़े प्यार से अपने पास बिठाया तथा काफ़ी देर मुझसे बातें करते रहे। बातचीत में उन्होंने अपने बारे में सामान्यतः कुछ भी नहीं कहा तथा मेरे बारे में ही पृच्छा करते रहे, बीच-बीच में मुस्कुराते हुए वार्ता का क्रम बढ़ाते रहे। उन्होंने मेरी एक कविता ['आलोकित कर दो'] का भी उल्लेख किया तथा उसे एक श्रेष्ठ सूर्य-स्तुति बतलाया तथा मुझे बार-बार आशीर्वाद दिया। उनका व्यक्तित्व एवं व्यवहार विलक्षण था, जीवन भी बहुत ही निर्लेप था।

बड़े दृढ़प्रतिज्ञ थे वे। केशच्छेदन नहीं कराने की प्रतिज्ञा उन्होंने १९४२ में की। भारत के स्वतन्त्र होने पर ही केशच्छेदन कराएंगे ऐसी प्रतिज्ञा की, तथा भारत स्वतंत्र हुआ तो पुनः प्रतिज्ञा कर ली कि अखण्ड भारत बनने पर ही केशच्छेदन कराएंगे। १४-२-४८ को उन्होंने वेद-संस्थान की स्थापना की तथा ३०-३-४९ को पुलिस-विभाग से विदाई ली।

स्वामी जी अन्तरात्मा से कवि थे। उनका कण्ठ भी बड़ा सुरीला था, तथा वे तन्मयतापूर्वक जब गाते थे तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे। **योगतरंग, विदेह-गीतावली, दयानन्द-चरितामृत,** आदि उनकी काव्य-कृतियां हैं जो मन पर अमिट छाप छोड़ती हैं। वेद-व्याख्या के अतिरिक्त टीकाएं भी उन्होंने लिखीं। **गीतायोग** तथा **योगालोक** भी पठनीय हैं। अन्य ग्रन्थों में **वेदालोक, जीवन-ज्योतियां, अज्ञात महापुरुष, गृहस्थ-विज्ञान, वैदिक बालशिक्षा, वैदिक स्त्रीशिक्षा** और **साधना,** आदि प्रमुख हैं। **'विदेह'-गाथा** उनकी आत्मकथा है जो उनकी निजी दैनंदिनी के आधार पर लिखी गई है तथा उसमें उनके जीवन के अन्तिम दिनों तक की घटनाओं का उल्लेख है। सरल एवं निश्छल भाषा एवं शैली के प्रवाह में बहता हुआ पाठक, उनकी सहनशीलता एवं तेजस्विता से प्रभावित

हुए बिना नहीं रह सकता; उनकी कठोर साधना एवं संकल्प-शक्ति प्रभावित करती है। 'विदेह'-गाथा एक अमूल्य दस्तावेज़ है।

स्वामी जी का अत्यधिक विरोध हुआ। उनके विरोधियों ने उन्हें नीचा दिखाने का हर संभव प्रयास किया लेकिन वे ज़हरीले नागों को भी अमृत पिलाते रहे तथा चन्दन जैसे निर्लिप्त रहते हुए समाज को सुवासित करते रहे। उनके जीवन पर स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रभाव तो था ही, यह भी बड़ा विचित्र संयोग है कि उनको भी प्रायः वैसा ही घोर विरोध सहना पड़ा जैसा कि दयानंद ने सहा।

परन्तु फिर भी **वेदों का परवाना**, अकेला वेद-प्रचार के रास्ते पर चलता रहा और उसने अपनी वेदना को निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया,

'विदेह' बुरा है या अच्छा जब दुनिया से उठ जायेगा,
बुलबुल ये तराना गाएंगी, वेदों का परवाना न रहा।

स्वामी जी संस्कृत, हिन्दी, अंगरेज़ी और उर्दू के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। कुछ लोगों का आरोप है कि वे केवल मैट्रिक थे, अतः विद्वान् नहीं कहला सकते। वस्तुतः यह आरोप बहुत ही हास्यास्पद है। सूर, तुलसी, कबीर, जायसी, बिहारी, मीरा और मैथिलीशरण के लिए भी क्या हम ऐसा ही कहेंगे? 'विदेह' जी विलक्षण प्रतिभा के धनी थे।

उन्होंने आडम्बर एवं पाखण्ड का खण्डन तो किया ही; हरिजनों के उद्धार की दिशा में भी उल्लेखनीय कार्य किया। 'विदेह-गीतांजलि' में उन्होंने लिखा,

खोजकर देखा तो सबको
एक सा पाया अभेद,
पोप की लीला है वर्ना
छूत क्या और छात क्या।

इन्सान का दर्द उनसे कभी नहीं देखा गया,

पराई पीर में पिलना
पराई आग में जलना,
मुझे इस धर्म से बढ़कर
न कोई धर्म भाता है।

स्वामी जी ने **'विदेह'-गाथा** में श्री विश्वदेव तथा वेद-संस्थान के वर्तमान अध्यक्ष, डॉ अभय-देव का बड़े स्नेहिल भाव से उल्लेख किया है। स्वामी जी के ये दोनों यशस्वी पुत्र उनके वैदिक मिशन की सफलता के लिए निरन्तर कार्यरत हैं। उन्होंने अन्य अनेक सम्बद्ध जीवन-ज्योतियों को भी कृतज्ञतापूर्वक याद किया है।

निरन्तर वेदप्रचार-यात्राओं से स्वामी जी अस्वस्थ रहने लगे थे। फिर भी वे अनवरत लिखते रहे, अथक परिश्रम एवं अनवरत पर्यटन करते रहे। वेदवेदि-बंदी के बाद भी उनकी लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आई। अन्त में, हारकर, वेदवेदि उन्हीं लोगों ने खोल दी जिन्होंने बन्द की थी।

५ मार्च, १९७८ को आर्य-सम्मेलन (सहारनपुर) में उनका वेदप्रवचन था। उन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी वह प्रवचन पूरा किया और तत्पश्चात् **मोह की दृढ़ पाशों को तोड़कर**, हमें हमेशा के लिए छोड़कर, अचानक ही, अनन्त यात्रा हेतु उन्होंने प्रयाण किया। उनका निर्वाण निर्विभेद, निर्विकार एवं निर्विकल्प था तथा अविस्मरणीय रहेगा।

आस्था पर प्रहार

अमृतसर—पवित्रनगर, करोड़ों आस्थावानों की आस्था का केन्द्र! उसमें जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा की मूर्तियों को सार्वजनिक रूप से जला दिया गया। अभी-अभी बम का विस्फोट करके एक मन्दिर को उड़ा दिया गया। इसकी प्रतिक्रिया हुई जगन्नाथ पुरी में। वहां मंगू मठ में प्राचीन मूर्ति को नष्ट कर दिया गया। साम्प्रदायिकता का यह नंगा नाच कब तक चलेगा?

आदमी ने जब यह देखा होगा कि अपने शरीर में जड़ और चेतन को अलग-अलग कर पाना कठिन है, आत्म-तत्त्व की पहचान करने में कठिनाई हो रही है, तब अपना प्रतिरूप मूर्ति के रूप में गढ़ा होगा। अपने जैसे हाथ-पैर, अपने जैसा मुख, अपने जैसे नाक-नक्श, श्रोत्र-नयन। अपने जैसी वाणी भले ही उसमें प्रविष्ट नहीं करा पाया हो; पर उसको मुंह-बोलती तो अवश्य बना दिया था उसने। कलाकार की ऐसी दिव्य कलाकृति को तोड़ना कितना बड़ा अपराध है?

ऐसा नहीं है कि मूर्ति-भंजक पहली बार पैदा हुए हों। मूर्ति का निर्माता तो स्वयं मूर्ति-भंजक होता है। वह जिसे बड़ी ममता से बनाता है वह मूर्ति तो केवल शरीर का प्रतिरूप भर रह जाती है। वह उसके पार उसमें दिव्यता का दर्शन करता है। उसे याद है संस्कारों से कि मूर्ति न आत्मा की प्रतिमा है न परमात्मा की। वह तो शरीर-मात्र है। इस प्रतिमा के, स्थूल रूप के पीछे झांको। अखंड आनन्द का स्रोत वहीं है। यह मूर्ति-भंजन ही तो हुआ। ऐसा मूर्ति-भंजन तो कला का लक्ष्य है, उपासना का लक्ष्य है, अर्चना का लक्ष्य है; पर यह कैसा मूर्ति-भंजन कि मूर्ति को तोड़कर समझ लिया कि लो, किसी की आस्था को मार दिया है! आस्था ऐसे मर जाती है क्या?

आपसी मनमुटाव हो सकता है, रंजिश हो सकती है। कोशिश तो रंजिश को मिटाने के लिए होनी चाहिए। दूरियां मिटती हैं, तभी परिवार बनता है, समाज बनता है, राष्ट्र बनता है। और दायरा बढ़ा लो तो विश्व कुटुम्ब बन जाता है। पर, आस्था पर प्रहार कर रहे हो। तुम तो समझ लो, इससे आस्था मरती नहीं है। और सुदृढ़ होती है। दूरियां बढ़ें—ऐसा काम क्यों करते हो? यह मानवता के विकास की सभी सीढ़ियों को तोड़ना हुआ, सारे इतिहास को नष्ट कर देना हुआ। मूर्ति से जुड़े अन्ध विश्वास को स्वामी दयानन्द ने तोड़ा था। वह मानवता का संरक्षक बन गया, मानव-इतिहास का पुरोहित बन गया। तुम मूर्ति के साथ आस्था पर प्रहार करते हो। सोचो, इतिहास तुमको क्या कहेगा?

एक तुम ही जीना चाहते हो, औरों पर प्रहार करना चाहते हो। सोचो तो, किससे लड़ रहे हो तुम? जिस रास्ते पर चलकर तुम सिरमौर बनना चाहते हो, वह रास्ता है ही नहीं। मृगतृष्णा है, भटकाव है। सारे महापुरुष, सभी धर्म-प्रवर्तक भटकाव से मानवजाति को मुक्त कराने के लिए पैदा हुए थे। तुम नाम लेते हो किसी महापुरुष का, उसके पंथ का, और करते हो मनमानी। यह पंथ नहीं है। इसमें पंथ का हित नहीं है।

इस देश में तो ज्ञान का पंथ चला है, प्रेम का पंथ चला है, शौर्य का पंथ चला है, न्याय का पंथ चला है। बोलो, कौन सा पंथ है तुम्हारा? जिन नामों को तुम अपने साथ जोड़े हुए हो, वे भी मूर्तियां हैं—आस्था की, विश्वास की। बाहर की स्थूल मूर्तियां तोड़ोगे तो भीतर की मूर्तियां भी टूटेंगी। इस आस्था को बचाओ। इस पर प्रहार मत करो। आस्था खंडित हो गई तो न समाज बचेगा, न राष्ट्र। जिस चूल्हे पर अपनी अलग खिचड़ी बनाना चाहते हो वह चूल्हा भी नहीं बचेगा।

समझो कि आस्था पर प्रहार करने का अर्थ आत्महत्या होता है और आत्महत्या से बड़ा कोई पाप नहीं है। अपनी रक्षा भी करो और आदमी की उस मूर्ति को भी बचाओ जिसके एक रूप तुम स्वयं हो।

—पंचोली

प्रतिक्रिया

१) 'वेद-सविता' का जनवरी, '८३-अंक इतना अच्छा लगा कि किन शब्दों में प्रशंसा करूं। एक से एक बढ़िया, मनोहारी, सुपच लेख, नूतन वर्ष के चिन्तन पर मन्त्र-व्याख्या, मान्य 'शैलेन्द्र' का लेख, 'अकृतज्ञता' में आधुनिक दुनिया का सजीव चित्रण ! इस लेख से मन को बड़ा ही समाधान मिला। 'शैलेन्द्र' जी के लेख प्रतिमास छपें, यह उनसे आग्रह है। बलदेव नैष्ठिक का 'सुमति की संगति' बहुत ही उच्चकोटि का है। प्रार्थना-मन्त्रों का पद्यानुवाद बहुत सुन्दर बन पड़ा है। श्री पंचोली जी के लेख तो प्रेरणास्रोत ही रहते हैं। 'तुझको पुकारते हैं मस्तक झुका के स्वामी' जैसी भक्ति-कविताएं हर अंक में अवश्य दें। यह अंक सबसे आकर्षक बन पड़ा है। मैं अपने विद्यालय के अध्यापकों को 'वेद-सविता' पढ़ने के लिए खाली समय में देता हूँ, जो मेरे बैग में हर समय रहती है। खाली समय में मैं उसका स्वाध्याय करता रहता हूं।

—ओम्प्रकाश, काँट (शाहजहांपुर)

२) 'दयानन्द-स्वप्नांक' के कुछ पृष्ठ पढ़े। मान्य श्री डॉ फतहसिंह जी के प्रति श्रद्धा और सम्मान में वृद्धि हुई। यह बड़े गहन विचारों से भरी है। दिलचस्पी से पढ़नेवाले ही लाभ उठा पाएंगे।

आज संकट की घड़ियों में जाति व राष्ट्र को पंडितों की अपेक्षा क्षत्रियों, वीरों, जीवनदानियों की अधिक आवश्यकता है। विज्ञ, तह तक पहुँचनेवाले विद्वान् क्षात्र धर्म की वृद्धि हेतु अपनी बलवती लेखनी उठाएं। क्षात्र धर्म के वेदमन्त्रों का संग्रह वांछनीय है।

—म **दयानन्द**, आगरा

३) 'दयानन्द-स्वप्नांक' साज-सज्जा, मुद्रण, काग़ज़, आदि दृष्टि से तो बहुत ही मनमोहक बन पड़ा है और इससे भी उत्तम बात तो यह है कि सम्पूर्ण लेख मननीय, चिन्तनीय, पठनीय और गंभीर हैं। यह विशेषांक तो संग्रहणीय अंक बना है। यह परिश्रम सार्थक है और प्रशंसनीय है। **—राजपालसिंह**, शास्त्री, दिल्ली

४) 'दयानन्द-स्वप्नांक' आद्योपान्त ग्राह्य है। जनवरी, '८४-अंक में **'सु' का विज्ञान, आनन्दमय जीवन—सर्वार्थ** में ऋचाओं की आनन्दभरी, ज्ञानवर्धक, आदर्श व्याख्याएं, निश्चय ही, जीवन की दिशा को निर्धारण करने वाली हैं। **—रामेश्वरलाल चौधरी**, चावण्डिया (नागौर)

५) 'दयानन्द-स्वप्नांक' के लिए साधुवाद। डॉ फतहसिंह के लेख अत्यन्त गंभीर हैं। उनके श्रम और योग्यता के द्योतक होने के साथ साथ, वे आलोच्य विषय पर भी अच्छा प्रकाश डालते हैं। ऐसे लेखों के सम्बल से वैदिक रहस्यों के उद्घाटन करने में अनुसंधित्सु और जिज्ञासु जनों को अवश्यमेव सहायता मिलेगी। विशेषांक पुस्तकालयों और वैदिक विद्वानों के लिए सर्वथा संग्रहणीय है।

—जयदत्त उप्रेती, अल्मोड़ा

६) 'आर्य-सन्देश' (नई दिल्ली) ने अपने २२ जनवरी, '८४-अंक में 'वेद-सविता' के दिसम्बर, '८३ की 'अक्रोध' रचना 'कभी क्रोध न करो' शीर्षक से रूपान्तर से दी है।

७) जनवरी, '८४-अंक में ज़न्द अवेस्ता का अंश पढ़कर प्रभावित हुआ। बहुत सुन्दर।....अब मैं वेदमन्त्र-व्याख्या के भूतल पर एकमात्र पत्र ['वेद-सविता'] को वेद-स्वाध्याय का श्रेष्ठ माध्यम ही पा रहा हूं।

—कोमलभाई 'केश', कौड़िया (आज़मगढ़)

८) मुझे तो अब दृढ़ निश्चय हो गया है कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सृष्टि-विज्ञान ही है। यदि हम 'विज्ञान' शब्द को उसके व्यापक अर्थ में लें तो उसमें आध्यात्मिक विषयों का भी समावेश हो जाता है। फिर भी आज के युग में सबसे अधिक महत्त्व वैज्ञानिक विषयों का ही है और, इस कारण, वेद में आधुनिक विज्ञान के गूढ़तम रहस्यों की खोज वेद और भारतीय संस्कृति के गौरव को बढ़ाने वाली है। मैं निरन्तर इस दिशा में प्रयत्नशील रहूंगा।....वेदव्याख्या के सम्बन्ध में सबसे अधिक कठिनाई मन्त्रों के सही हिन्दी रूपान्तरण की है। यदि वेद-संस्थान यह कार्य कर सके तो यह अपने आपमें एक बहुत बड़ा कार्य होगा। **—डॉ एम एल गुप्त**, भरतपुर

संस्थान समाचार

अजमेर

'वेदामृत' : जनवरी, '८४ में १, १५, २९ को **अभयदेव** के, ८ को **मदनसिंह चौहान** का, २२ को डॉ **बद्रीप्रसाद पंचोली** का वेदप्रवचन हुआ।

नव संस्करण : 'वैदिक बालशिक्षा' (संपूर्ण, एक जिल्द में) का नवीन ८वां संस्करण फ़रवरी, '८४ में छपा है। इस बार इसके आवरण पर एक बहुरंगी चित्र दिया गया है और जिल्द जुज़बन्दी की है। —**विश्वदेव शर्मा**, मंत्री

नई दिल्ली ११० ०२७

सी २२, राजौरी गार्डन (दूरभाष : ५० २३१६)

साधना-सदन

दैनिक, महिला-सत्संग : जनवरी, '८४ में यथानियम होते रहे। दैनिक सत्संग में स्वामी **श्रेयोनन्द** ने यजुर्वेद के ७वें अध्याय की व्याख्या की।

संस्कृत-वेदकक्षा : नित्य सायं ३ से ४ स्वामी श्रेयोनन्द अध्यापन करते रहे।

साप्ताहिक सत्संग : में स्वामी श्रेयोनन्द, डॉ फतहसिंह, गोपालशरण 'विद्यार्थी' के वेद-प्रवचन हुए।

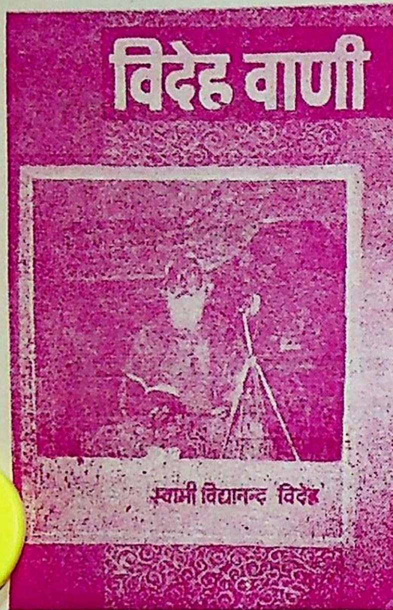
मासिक सत्संग : ८ जनवरी को **अभयदेव** का वेदप्रवचन, **भूयाम ते सु-मतौ** ···(ऋग्वेद ८.३.२ [सामवेद १४२२]) मन्त्र पर 'जीवनचित्र' शीर्षक से हुआ।

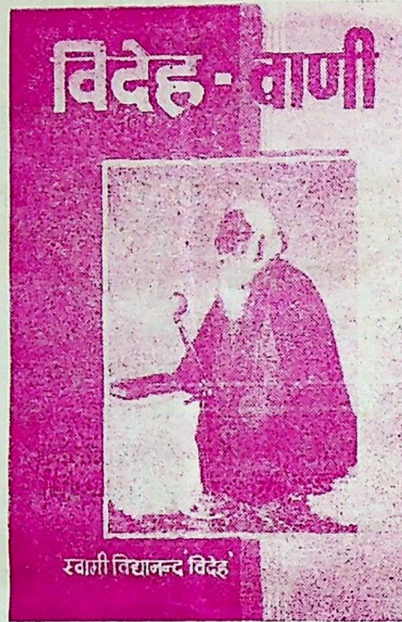
दैनिक ध्यान : सायं ५ से ५.३० तक आश्रमवासी नित्य संमिलित सन्ध्या और ध्यान करते हैं।

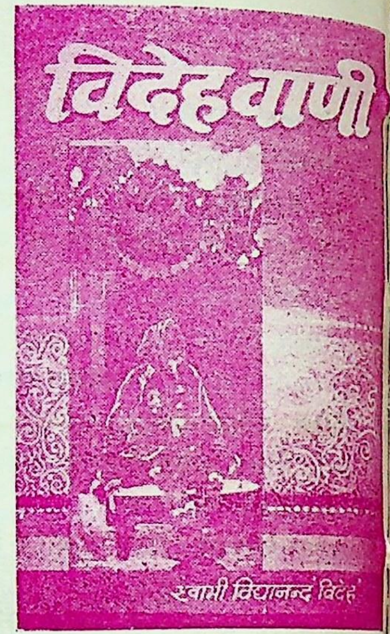
ब्रह्म-सदन

अभयदेव का एक वेदप्रवचन ८ जनवरी को आ.स. टैगोर गार्डन में हुआ। स्वामि-द्वय, दयानन्द और निर्मलानन्द के वेदप्रवचन और साधनाशिविर अहमदाबाद, सूरत, ओफ़र, इन्दौर, मीरापुर (मुज़फ़्फ़रनगर), रतलाम में हुए। स्वामी श्रेयोनन्द के वेदप्रवचन विभिन्न आ.समाजों और परिवारों में हुए।

नवीन होता : पोषक : अभिलाषचन्द्र टंडन (न.दि.), अरविन्द श्रीवास्तव (इलाहाबाद), आर पी वासन (इलाहा.), आर्यसमाज (अहमदाबाद), डी ए वी इण्टर कॉलेज (इलाहा.) दयानन्द-आर्यवैदिकसत्संग (इलाहा.), दीवानचन्द खुल्लर (न.दि.), पवन कोहली (न.दि.), रघुवीर वेदालंकार (न.दि.), राजेश मंगलसिंह (रतलाम), रामकृष्ण गुप्त (मुज़फ़्फ़रनगर), लाजपतराय (न.दि.), विलायतचन्द्र सेठिया (न.दि.); वेदप्रकाश (न.दि.), श्यामसुन्दरलाल (दिल्ली), सुरेन्द्रनारायण सक्सेना (इलाहा.)। —**गन्धर्वराज पुरी**, कार्यालय-मन्त्री







प्रथम उद्गार के प्रवचन

गृहस्थ की मर्यादाएँ
आत्मसाधना
नौका बनो
अपा मार्ग
जीवनपद्धति

रु ५.००

द्वितीय उद्गार के प्रवचन

दर्शन के अधिकारी
योग का मार्ग
उसको जानो
गोपाल
यज्ञ-संस्कृति
वेदमाता द्वारा प्रशंसित

रु ५.००

तृतीय उद्गार के प्रवचन

प्रभु का नाम, प्रभु का काम
प्रभु से मांगो
पूजित धन
शिशु बन, पूजित धन मांग
छिद्रपूर्ति
मेरी महिमा
दाम्पत्य जीवन

रु ५.००

अपने उद्धार के लिए, अपने घर, समाज को स्वर्ग बनाने के लिए

'विदेह'-वाणी

से बढ़कर अचूक उपाय नहीं है

इस युग के अद्वितीय उपदेष्टा, स्वामी 'विदेह' की चमत्कारी प्रेरणाएं आपकी कायापलट कर देंगी

ओम्

संस्थापक : स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वर्ष ४ : अङ्क ४; नवम्बर, १९८३

वेद-सविता

सतत प्रकाशन का ३६वां वर्ष

वेदमन्त्र-व्याख्या का भूतल पर एकमात्र पत्र

वेद-स्वाध्याय का श्रेष्ठ माध्यम

अँधेरे चीर दे जो सौ युगों के। वह 'सहगल' वेद-सविता की किरण है।

सोम का अस्त्र

किम् अङ्ग त्वा ब्रह्मणः सोम ! गोपां, किम् अङ्ग त्वाहुर् अभि+शस्ति-पां नः।
किम् अङ्ग नः पश्यसि निद्यमानान्, ब्रह्म-द्विषे तपुषिं हेतिम् अस्य। ऋग्वेद ६.५२.३

· ऋजिश्वा। विश्वे देवाः। त्रिष्टुप्।

१ [सोम !] सोम !, (अङ्ग) भला, (त्वा) तुझे (ब्रह्मणः गोपाम्) ब्रह्म का गोपा (किम्) क्यों [कहा है] ?

२ (अङ्ग) भला, (त्वा) तुझे (नः अभि+शस्ति-पाम्) हमारा शत्रु-रक्षक (किम्) क्यों (आहुः) कहा है ?

३ (अङ्ग) भला, (निद्यमानान् नः) निन्दापात्र बनरहे हमें (किम् पश्यसि) क्योंकर तुम देख रहे हो ?

४ (ब्रह्म-द्विषे) ब्रह्म-शत्रु के लिए (तपुषिम् हेतिम्) तापक आयुध को (अस्य) फेंको।

—अभयदेव

[**आनन्द का संतापक अस्त्र** शीर्षक से इस मन्त्र की व्याख्या इसी अंक में विद्यमान है। —सम्पादक]

हिमाचल प्रदेश के महाविद्यालय-, ज़िला-, और स्कूल-पुस्तकालयों के लिए अनुमोदित (शिक्षा-निदेशालय के पत्रांक : शिक्षा-एच (८)-६(६)१/७७; दिनांक २४.१२.'८१ के अनुसार)

कहाँ क्या ?

इस अंक में प्रस्तुत है ६ वेदमन्त्रों पर चिन्तन

वेद-संस्थान के उद्देश्य

वेद को विश्वधर्म बनाना, संस्कृत को विश्वभाषा बनाना, विश्व में वैदिक संस्कृति की स्थापना करना।

अध्यक्ष : **अभयदेव शर्मा**, एम ए, पीएच डी

प्रकाशसदन, आर्यनगर, अजमेर ३०५ ००१

नवम्बर '८३ के वेदप्रवचन

वेद-संस्थान, अजमेर

रविवारीय 'वेदामृत' [प्रातः ७·३० से ८·३०] में 'साधना'-यज्ञ के पश्चात् ६, २७ नवम्बर को **अभयदेव** के, १३, को **मदनसिंह चौहान** का, २० को डॉ **बद्रीप्रसाद पंचोली** का वेदप्रवचन।

वेद-संस्थान, नई दिल्ली

प्रति-मंगलवार १, ८, २२, २९ को **महिला-सत्संग** सायं ४.३० से।

मासिक सत्संग : १३ को सायं ४ से ५.४५ में **अभयदेव** का वेदप्रवचन।

तपः-साधना-शिविर : १४ से २० को।

दैनिक सत्संग में डॉ फतहसिंह के वेदप्रवचन।

दैनिक वेदकक्षा में डॉ फतहसिंह द्वारा वेदाध्यापन।

सम्पर्क-सूत्र

प्रधान-सम्पादक : **बद्रीप्रसाद पंचोली,** एम ए, पीएच डी
६४, जीवनविहार कॉलोनी, आनासागर सर्क्यूलर रोड, [अजमेर ३०५ ००१
[अंगरेज़ी-खण्ड] म. **चैतन्यमुनि**
जे १२/५, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली ११० ०२७
प्रेस-रजिस्ट्रार पंजीयन-सं. : आर एन ३८०५१/८
प्रकाशक : **वेद-संस्थान**, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड,
मुद्रक : **प्रिण्ट हाउस**, अजमेर [अजमेर ३०५ ००१

आजीवन : [केवल व्यक्तियों के लिए] १५० रु; विदेशों में ३०० रु; हवाई डाक से रु ५००
एक प्रति : १ रु;
वार्षिक : १२ रु; वी पी द्वारा रु १५.४०; विदेशों में ३० रु; हवाई डाक से रु ७०
ग्राहकी-समाप्ति का मास : जुलाई
ग्राहकी आरंभ करने के मास : अगस्त, नवम्बर, फ़रवरी, मई

पिता-पुत्र

स्वामी **विद्यानन्द 'विदेह'**

पिता पुत्र के लिए सूपायन होता है। वह जब चाहता है तब ही बे-रोक-टोक पिता के समीप पहुंच जाता है। बच्चा धुटमन चलता हो वा पामन, उसे जब पिता की स्मृति हो आती है और पिता से मिलने की भावना होती है तब ही वह लुढ़कता पुड़कता, हंसता खेलता, किलोल करता और किलकारी मारता हुआ पिता के पास पहुंच कर उसकी गोदी में बैठ जाता है। पिता के समीप पहुंचकर उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। परन्तु समीप पहुंचने पर जब पिता अपने बच्चे को अपनी क्रोड [गोद] में लेकर उसे अपने वक्ष से आबद्ध करता है, अपने सीने से चिमटा लेता है तब तो बालक का रोम रोम पुलकित हो जाता है और उसे अतीव आत्मिक स्वस्थता प्राप्त होती है।

बालक प्रायः सुखपूर्वक खाता पीता और खेलता रहता है। सुखावस्था में न तो उसे अपने पिता का स्मरण होता है, न पिता से मिलने की भावना जागरित होती है। सहसा संकट वा भय उपस्थित होने पर अनायास उसे पिता का स्मरण होता है, पिता के समीप पहुंचने की भावना उत्पन्न होती है, और वह रोता हुआ, 'पिता जी, पिता जी' चिल्लाता हुआ, सवेग अपने पिता की ओर दौड़ता है। पिता भी अपने पुत्र की पुकार सुनकर पुत्र की ओर अनुधावन करता है। पुत्र पिता की ओर भाग रहा है, और पिता पुत्र की ओर। दोनों एक दूसरे के समीप पहुंचते हैं। पिता पुत्र को गोदी में उठाकर अपनी छाती से लगा लेता है। पिता के सीने से लगते ही बालक अपने को संकट और भय से मुक्त पाता है, आत्माह्लाद अनुभव करता है, रोना बंद कर देता है और हंसने मुस्काने लगता है। पिता पुत्र, दोनों बातें करने लगते हैं। पुत्र तोतली बोली बोलता है। पिता भी पुत्र की भाषा में ही अपने पुत्र से दुलारपूर्ण बातें करता है।

क्या सुखावस्था और क्या दुःखावस्था, दोनों ही अवस्थाओं में जब पुत्र पिता के समीप जाता है तो पिता अपने पुत्र की स्वस्ति के लिए अपने पुत्र को अपनी क्रोड में आबद्ध कर लेता है। पिता पुत्र की यह समीपता और आबद्धता दोनों ही के लिए स्वस्तिदायिनी, आनन्दप्रदायिनी होती है। दोनों ही तो परस्पर समीपस्थ और आबद्ध होकर स्वस्ति लाभ करते हैं। पुत्र पिता के समीप है, तो पिता भी पुत्र के समीप है। पुत्र पिता से आबद्ध है, तो पिता भी पुत्र से आबद्ध है। पिता ने पुत्र को अपने वक्ष से चिमटाया हुआ है, तो पुत्र के वक्ष से पिता का वक्ष भी तो चिमटा हुआ है। नटखट बालक सामान्यतः अपने पिता से अलग रहते हैं किंतु संकट में अपने पिता को याद करते हैं और अपने पिता के समीप जाते हैं। पर सच्चे अच्छे पुत्र तो कभी अपने पिता से पृथक् होना नहीं चाहते, यद्यपि परिस्थितिवश उन्हें अपने पिता से अलग रहना पड़ता है।

स्वामी **विद्यानन्द 'विदेह'**
(१८९९-१९७८)



वेद-संस्थान (अजमेर, नई दिल्ली) के संस्थापकाध्यक्ष, जिनका पावन जन्मदिवस १५ नवम्बर, १९८३ है। आपकी वेदसाध के प्रति अपने संकल्प और अपनी श्रद्धा को हम सब संस्थान-सेवी सदा संप्राप्त रहें।

आत्माग्नि और ब्रह्माग्नि में तो कभी दूरी होती ही नहीं है। आत्माग्नि तो सदा ही ब्रह्माग्नि की गोद में स्थित है। बहिर्मुखता होने पर आत्मा में परमात्मा की स्मृति, अनुभूति और भावना नहीं रहती। साधारण जनों को परमात्मा की स्मृति और भावना संकट वा भय के उपस्थित होने पर

आनन्द का संतापक अस्त्र*

अभयदेव एम ए, पीएच डी

: १ :

जीवन के प्रति अनेक प्रकार के दृष्टिकोण हो सकते हैं। प्रत्येक का अपना पृथक् दृष्टिकोण होता है जिससे वह जीवन को देखता है। किसी का दृष्टि-कोण अन्य किसी के दृष्टिकोण से पूरा पूरा मेल नहीं खा सकता है क्यों कि प्रत्येक का अपना अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है जो अपनी अपनी निराली परिस्थितियों में बना करता है। पर अनन्त दृष्टिकोणों को कुछ वर्गों में बांटना संभव है। एक दृष्टिकोण है **प्रतियोगिता।**

'योग' का अर्थ होता है दो अथ वा अधिक वस्तुओं का मेल। 'प्रति-योग' कहेंगे, मिलन की स्थिति को तोड़ने का, विपरीत, यत्न। जोड़ने का यत्न योग है, तोड़ने की मंशा प्रति-योग है। अपने को दूसरे से पृथक्, कटा हुआ समझना, अपनी उन्नति को दूसरे की उन्नति में सहयोगी न बनने देना, वरन् दूसरे की उन्नति को अपनी हानि मानना, ये और ऐसे अनेक दृष्टिकोण प्रतियोगिता से प्रसूत होते हैं। वैदिक भाषा में प्रतियोगिता को **अति-याज** कहा जाता है। **अति-याज** नामक दृष्टिकोण (**ऋषि**) इसलिए यजन करता है ताकि दूसरे से आगे बढ़ जाया जाए। यज्ञ करना तो अच्छा है पर किसी से अधिक बढ़ जाने की नीयत से यज्ञ करने से तो यज्ञ की मूल भावना का हनन हो जाता है। शुभ कर्म की शुभता चित्त की पवित्रता से सिद्ध होती है, मात्र कर्म से नहीं।

अतियाज ऋषि अपनी सीधी प्रतियोगिता जिस दृष्टिकोण से मानता है उसे वैदिक भाषा में **ऋजि-श्वा** कहा जाता है। ऋजिता अथ वा ऋजुता में श्वास, चैन की नींद लेनेवाला ऋजि-श्वा कहाता है। जो जीवन को प्रतियोगिता नहीं मानता वरन् स्वयं-विकास मानता है वह ऋजिश्वा है। प्रत्येक को अपने अपने स्वभाव और गुणों के अनुसार, अपनी अपनी परिस्थिति में अपना अपना विकास करना है। कोई किसी से क्यों ईर्ष्या, द्वेष रखे, क्यों किसी की राह में रोड़े अटकाए; क्यों न प्रत्येक अपनी अपनी राह चले, यह ऋजु—सरल, निश्छल भावना जीवन का ऋजिश्वा दृष्टिकोण (ऋषि) कहाता है।

पर जीवन सीधी सपाट लकीर नहीं है। कोई ऋजिश्वा अपनी आसुरी भावनाओं पर विजय पा ले, यह संभव है। पर कोई अन्य अपनी आसुरी भावना का शिकार ऋजिश्वा को बनाने लगे तो ऋजिश्वा क्या करे। उसके विकास में बाधा पहुं-चानेवाले को जैसे का तैसे उत्तर दिया तो जा सकता है पर ऐसा करने से ऋजिश्वा, ऋजिश्वा न रहकर, बाधक अतियाज की कोटि में जा पहुं-चेगा। और, ऐसा होना तो 'परधर्मो भयावहः' हो जाएगा। अतः अपनी ऋजुता को अक्षुण्ण रखते हुए 'स्वधर्मे निधनं' बहतर है, यह सोचकर ऋजिश्वा ऋषि अपने आत्मधन—आत्मानन्द का आश्रय लेता है। आत्मिक आनन्द रूपान्तर-मात्र है आत्मज्ञान और आत्मबल का। अपने स्वरूप को

* इस अंक के मुख-पृष्ठ पर मुद्रित वेद-मन्त्र की व्याख्या। —**सम्पादक**

(पृष्ठ ७१ का शेष)

ही होती है। परन्तु साक्षात्कर्मा स्तोताओं की स्थिति सर्वथा भिन्न होती है। वे तो एक क्षण के लिए भी अपने प्रियतम देव से पृथक् रहना नहीं चाहते। केवल प्रातः सायं का मिलन उनके लिए पर्याप्त नहीं होता। उन्हें तो प्रतिक्षण अपने प्रिय-तम देव की आत्मानुभूति और उसका आत्मानुस्प-न्दन चाहिए। एक क्षण के लिए भी जल से पृथक् होने पर मछली तड़फड़ाने लगती है। जब वह पुनः जल में प्रवेश करती है तो स्वस्थ हो जाती है।

—वेदव्याख्या-ग्रन्थ, प्रथम पुष्प
[में ऋग्वेद १.१.९* की व्याख्या] से

*स नः पितेव सूनवेऽग्ने ! सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।

जानना 'आनन्द' है। और यही ज्ञान और आनन्द आत्मा का बल है। प्रतियोगि-दृष्टिकोण के कारण अपने आनन्द को गंवा बैठना अथ वा मंद कर बैठना तो अपने आत्मज्ञान की और अपने आत्मबल की न्यूनता होगी। आनन्द को वैदिक भाषा में **सोम** कहा जाता है।

: २ :

चन्द्रमा सोम है। रात्रि के अन्धकार में आह्लाद का प्रसाद बांटना इस सोम का स्वभाव है। तपते हुए प्रकाश को सूर्य से लेना, पर उसे शीतल बनाकर उससे रात्रि को उजला करना, यह इस सोम की पद्धति है। यह सोम एक एक कला बढ़ता है। षोडशकलावतार होकर फिर अपने प्रकाशदाता सूर्य को अपनी एक एक कला भेंट कर देता है। चन्द्रमा की पद्धति का नमूना पृथ्वी पर एक ओषधि भी है। यह सोमौषधि स्वादिष्ठ है, मदिष्ठ है, आनन्दप्रद है। इसकी भी एक एक पत्ती-रूप कला चन्द्रमा की कलाओं के साथ साथ बढ़ती और घटती है।

मानव के भीतर भी एक चन्द्रमा है और एक सूर्य है। सूर्य है बुद्धि, चन्द्रमा है मन। बुद्धि वह चक्षु है जो सत्य असत्य को तटस्थ-भाव से देखता है। फिर मन-रूप चन्द्रमा प्रज्ञाचक्षु के विवेक-तेज को मानवजीवन के लिए ग्राह्य, प्रिय, काम्य संकल्प का रूप देता है। पृथ्वी पर चन्द्रमा की रहनी को देखो, सोमौषधि की जीवनचर्या को देखो। जैसे वे आह्लाद, स्वाद, मद, आनन्द की निधि हैं, मानव को भी वैसी निधि बनना है। वस्तुतः, जैसे सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में आनन्द की न्यूनाधिक मात्रा निहित है वैसे मानव में भी आनन्द का स्रोत अन्दर कहीं पहले से छिपा पड़ा है। उस स्रोत के बन्द द्वार को खोलना मानव का परम पुरुषार्थ है, जीवन की सार्थकता है।

सोम मानव के आनन्दमय व्यक्तित्व का प्रतीक है। आत्मा स्वरूप में आनन्द है, साक्षात् आनन्द। जिसने अपने इस 'आनन्द'-स्वरूप को जान लिया, समझ लिया वह आनन्दी हो गया। इस आनन्दी व्यक्तित्व में सराबोर होकर, मानव की ज्ञानवृत्ति, भावनावृत्ति, क्रियावृत्ति, सब आत्मानन्दमय और निष्कलुष हो जाती हैं। आत्मानन्द-धारा में आप्लावित हुए बिना, कितना भी ज्ञान, कितना भी पुण्य कर्म हो सबमें अहं-कीट चिपका रह जाता है जो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मत्सर, निन्दा, प्रतियोगिता, छल, हिंसा, भेद-भाव, आदि नाना रूपों वाले अपने अंडे देता रहता है। आत्मानन्द-धारा ही है जो अपने प्रबल, दुर्धष **पवमान** वेग में अहं-अहि को, इन्द्र के इस शाश्वत द्वेषी वृत्र को दूर, अतिदूर, सदा सदा के लिए परे बहा ले जाती है।

अन्यथा तो मानव बड़ा 'बेचारा' है। पदे पदे उसे पाप से प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। पापी पेट की ख़ातिर, वासनाओं के तक़ाज़ों की ख़ातिर भय, प्रलोभन के हाथों वह पदे पदे पिटता है, हारता है। वह जो कुछ भी सुकर्म कर पाता है, ज्ञान संचय कर पाता है, 'अतियाज' नामक प्रतिस्पर्धालु उससे भी बढ़कर तथा-कथित सुकर्मों का, ज्ञानभंडार का जाल फैला देता है। 'अतियाज' का अर्थ है अन्य के **याज**—यज्ञ को **अति**— मात देनेवाला याज जो करे वह। कोई विद्यार्थी मेधावी है, कक्षा में प्रथम आता है। अन्य छात्र उसके यश को सहन न कर पाए और उससे आगे निकलने का यत्न करे, यह प्रतिस्पर्धा उसे विद्योपार्जन का परिश्रम करने को प्रेरित करती है। यह उसका 'अतियाज' रूप है। अपने यत्न से वह आगे निकल भी सकता है। पर इससे उसमें अहं-कीट भी तो साथ के साथ पनप रहा है। यह छिपा हुआ अहंकार-रूप सर्प, न जाने, कब अपने फन को उठाने लगे और सब किए हुए पर पानी फेर दे। 'अतियाज' की प्रतिस्पर्धा-वृत्ति से आत्मा का जो 'ऋजिश्वा' व्यक्तित्व है—शिशुवत् भोला, सरल, निश्छल, आनन्दी—वह अहं-अहि की विषैली निगाहों से विषाक्त हो जाता है। आत्मा की ऋजुता – सरलता इस 'अहि-माया' की ओट में छिप जाती है। ऐसी स्थिति में अपना समस्त ओज

ग्रौर संबल समेटकर मानव को अपने ग्रात्म-स्वरूप की ग्रानन्द'**मय**'ता को पुकारना होता है। प्रस्तुत मंत्र में **ऋजिश्वा**—भोला, ग्रसहाय मानव सोम—ग्रपने ग्रानन्दमयत्व को चेता रहा है।

: ३ :

'सोम ! ग्रानन्दमय ग्रात्मन् ! तू तो ब्रह्म का रक्षक कहाता है। ग्रपने शत्रुग्रों से हमारा रक्षक भी तू है, ऐसा ऋषियों ने हमें बताया है। फिर भी, तेरे देखते देखते, हमारी निन्दा हो रही है। हमारी निन्दा, हमारे शत्रुग्रों द्वारा हनन, यह सब तू कैसे सहन कर रहा है? हमारा निन्दक, हमारा शत्रु तो, वस्तुतः, उस ब्रह्म का शत्रु है जिसका तू राखनहार है। ग्रतः ग्रपने इस ग्रस्त्र को हमारे शत्रु पर फेंको। तुम्हारे ग्रस्त्रायुध का ताप उसे जलाकर ख़ाक कर देगा।'

ब्रह्म, सोम ग्रौर हम—यह एक पक्ष है। इस पक्ष की प्रतिस्पर्धा में है ग्रतियाज नामक ब्रह्मद्विष्, ग्रभि-शस्ति, निन्दक। सोम ब्रह्म का रक्षक है। ग्रतः ब्रह्मद्वेषी को वह मारेगा। हम ब्रह्म के उपासक हैं। ब्रह्मद्वेषी ग्रब्रह्म—पाप का ग्रभिशंसन—प्रशंसा कर करके हमें ब्रह्म से विमुख करना चाहता है। पर हम उसके बहकावे में ग्रानेवाले नहीं हैं। तब वह ग्रपनी खीझ मिटाने के लिए हमारी, हमारी ब्रह्मभक्ति की, हमारी ऋजु जीवनपद्धति की निन्दा करने लगता है, ग्रौर हमसे खुली प्रतिस्पर्धा में ग्रा जाता है। ऐसी स्थिति में, सोम ! यद्यपि तुम शीतल, ग्रानन्द हो, ग्रपने में निहित उस तपते हुए तेज का लक्ष्य ग्रतियाज को बनाग्रो, जिस तेज को प्रतिफलित करके तुम ग्रानन्द हो। ग्रानन्द दुर्बल नहीं है, छुई-मुई के समान परिवर्तनशील सुख-दुःख रूप नहीं है वरन् मोद-प्रमोद की सतत, सन्तत, निरन्तर प्रवाहमयी शाश्वत धारा है, यह ग्राज एक बार फिर उजागर हो जाए।

ब्रह्म = ज्ञान । सोम = ग्रानन्द । वयम् = कर्मात्मा—जीवात्मा। हम मानवों के ज्ञानकोष की रक्षा ग्रानन्द से है। ग्रानन्द पहचान है ग्रात्मज्ञान की। जो ग्रानन्दी नहीं वह ग्रात्मज्ञानी नहीं। निरानन्द का ज्ञान भार-रूप है, रच-पचकर संस्कार-रूप नहीं हुग्रा है, व्यक्तित्व का अंश/अंग नहीं वन पाया है, यह समझना चाहिए। ब्रह्म वा ज्ञान-रूप सूर्य का जो वर्चस् वा तेज होता है उसकी ग्राह्लादचन्द्रिका ग्रानन्द है। कोरा ज्ञान ग्रहं-कीट से कलंकित होगा यदि वह ग्रानन्द के स्रोत को नहीं खोल पाए। ग्रानन्दधारा में ग्रहं-रूप ग्रभिशस्ति, निन्दक, ब्रह्मद्वेषी वृत्र भी ग्रपने ग्रतियाज-स्वभाव को विसराकर 'सोम' हो जाता है। ग्रानन्द में निहित 'तपुषि हेति' का प्रहार वृत्र को सोम बना देता है।

सुझाव दीजिए

'वेद-सविता' का ग्रगला विशेषांक (नवम्बर, '८४-अंक) किस विषय पर हो ग्रौर उस विषय पर किस किस प्रकार की सामग्री उसमें हो, यह सुझाव, देर से देर, ३० नवम्बर, '८३ तक ग्रापसे ग्रामन्त्रित है। विषय जनसाधारण की रुचि ग्रौर तत्काल उपयोग का होना चाहिए।

—सम्पादक, 'वेद-सविता'
वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड
ग्रजमेर ३०५ ००१

वैदिक स्वाध्याय के केन्द्र

सोमचैतन्य श्रीवास्तव, एम. ए., एम ओ एल
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी ए वी कॉलेज, कोरापुट ७६४ ०२०,

[श्री सोमचैतन्य श्रीवास्तव का एक लेख, 'वेदस्वाध्याय के केन्द्र' 'वेद-सविता' के अगस्त, १९८३-अंक में प्रकाशित हुआ था। कई पाठकों ने उनसे इस योजना को अधिक स्पष्ट करने का जो आग्रह किया था उसकी पूर्ति में उनका यह लेख है। पाठकों के ठोस संकल्पों, सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी। वस्तुतः स्वामी 'विदेह' के 'वैदिक-साधना-मण्डल'-रूप वेद-संस्थान-शाखाओं की कल्पना के पीछे ऐसी ही विराट् योजना थी। – **सम्पादक**]

१) वेदानुयायी आर्यजाति की परम्परा में वेदों को सृष्टि के आदि में सच्चिदानन्द ब्रह्म से, निःश्वास की भांति, सहज रूप से अभिव्यक्त, नित्य तथा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि में परम प्रमाण माना जाता है। वेद धर्म के मूल हैं तथा स्वतः-प्रमाण हैं। स्मृति, आदि अन्य शास्त्र वेदमूलक होने पर ही प्रमाण माने जाते हैं, अन्यथा नहीं। वेदों में शाश्वत सत्य ज्ञान है। इनमें सब विद्याओं के बीज निहित हैं। समाधिनिष्ठ, तपःपूत ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत ईश्वरीय ज्ञान का यह मन्त्राकार रूप है। वेद का स्वाध्याय परम पावन, मंगलप्रद एवं मोक्षकारक है। आर्यधर्म के व्यवस्थाकार, मनु ने द्विजों के लिए वेद के नित्य स्वाध्याय को अनिवार्य कर्तव्य (नित्य कर्म) निश्चित किया था। मनु के मतानुसार वेद का स्वाध्याय न करनेवाला व्यक्ति एवं समाज पतित अवस्था को प्राप्त होता है एवं प्रायश्चित्त कर्म करने का पात्र होता है। वैदिक स्वाध्याय महान् तप है, यह बुद्धि को निर्मल तथा सूक्ष्म बनाकर विज्ञान की वृद्धि करनेवाला है। स्वाध्याय एवं प्रवचन के व्रत का भङ्ग कभी नहीं करना चाहिए।

विचारणीय प्रश्न यह है कि वेदों के प्रति वाचिक श्रद्धा एवं मनु के धर्म-शासन के रहते हुए भी परिवारों से वेद के नित्य स्वाध्याय की परम्परा लुप्त क्यों हो गई? क्यों समाज वेद का परित्याग करके सामुदायिक रूप से पतित कोटि में आ गया है? क्यों वह ईश्वरीय वाणी का परित्याग करके परवर्ती काल में रचित (रामायण, भागवतपुराण, आदि), लौकिक वाणी के ग्रन्थों को मोक्षप्रद धर्म-ग्रन्थ मानकर उन्हीं के श्रवण और पारायण से संतुष्ट रहता है? क्यों समाज अब भी वेदों को एकमात्र धर्मग्रन्थ मानकर उनके अध्ययन-अध्यापन में प्रवृत्त नहीं होता? क्या कारण है कि वैदिक वाङ्मय के इतिहास में सायण और दयानन्द, आदि कुछ ही वेदभाष्यकारों के नाम मिलते हैं? ये दोनों नाम भी ईस्वी सन् की शताब्दियों के हैं। सायण के पूर्व की, भारतीय इतिहास के ज्ञान की तीन-चार सहस्र वर्षों की, वैदिक स्वाध्याय और प्रवचन की परम्परा कहां लुप्त हो गई? सायण और दयानन्द के मध्य की वैदिक-प्रवचन की कड़ी भी लुप्तप्राय है। दयानन्द के बाद भी प्रत्येक परिवार में वैदिक-स्वाध्याय की परम्परा को पुनरुज्जीवित करने तथा सार्वभौमिक और सार्वकालिक दृष्टिकोण अपनाकर विश्व में वेदों के प्रसार के लिए कुछ भी उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। विगत एक शताब्दी में समाज ने विभिन्न समाजसुधार के कार्यक्रमों, शिक्षा-संस्थाओं के संचालनों, वा विभिन्न आन्दोलनों तथा वार्षिक समारोहों, आदि में करोड़ों रुपए खर्च कर दिए होंगे पर वह वेदों के अध्यापन, शोध, प्रशिक्षण, प्रकाशन एवं प्रसार के लिए न तो कोई केन्द्रीय संस्था स्थापित कर सका है और न इस कार्य के लिए विशाल धनराशि का संचय ही कर सका है। वेदप्रचार के लिए कुछ गिने-चुने वेद-भक्तों (श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, क्षेमकरण त्रिवेदी, विश्वेश्वरानन्द, विश्वबन्धु, विद्यानन्द 'विदेह',

आदि) ने जो कार्य किया है उसका सारा श्रेय इनके व्यक्तिगत प्रयत्न तथा तप को जाता है ।[1]

२) वेदों का स्वाध्याय और प्रवचन इसलिए आवश्यक नहीं है कि ये आर्य जाति के सर्वप्राचीन धार्मिक ग्रन्थ हैं वा ईश्वरीय वाणी हैं अपि तु इसलिए भी कि ये मानवजाति के इतिहास में सुरक्षित, सबसे प्राचीन ग्रन्थ तथा मानवसंस्कृति की बहुमूल्य निधि हैं। विश्व की प्राचीनतम भाषा, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान और काव्य वेद की वाणी के रूप में सुरक्षित हैं। वेद में निहित उच्चतम गुह्य ज्ञान के रहस्यों का अब तक पूर्णतया उद्घाटन नहीं हो सका है। मानवजाति की सुरक्षा, शान्ति और सुख वेद-ज्ञान पर ही भविष्य में निर्भर है। वेद ही 'एक विश्व' की दृष्टि को अपनाकर सबके लिए एकता, भ्रातृत्व, सामंजस्य, सौहार्द, समानता, मधुमय व्यवहार, विश्वपरिवार, सत्य, व्रत, यज्ञ एवं अमृत की प्राप्ति की बात कहता है। आज का विश्व, वैदिक ज्ञान से वंचित होकर, मज़हबी ग्रन्थों तथा राजनैतिक वादों के कारण अनेक भागों में विभक्त होकर मिथ्या, पूर्वाग्रह, भय, घृणा, द्वेष, हिंसा, प्रतिशोध, शोषण एवं युद्ध की भावना से निरन्तर ग्रस्त होकर अशान्ति तथा असुरक्षा का जीवन जी रहा है। वह युद्धादि के द्वारा बरबादी तथा विनाश के कटु अनुभवों के द्वारा शिक्षा ग्रहण करने के बाद, अन्ततः, आत्मैकत्व का ज्ञान प्राप्त कर शाश्वत सत्य, आनन्द एवं शान्ति की उपलब्धि के लिए वैदिक ज्ञान ही की शरण में आएगा। इसलिए भावी विश्व का कल्याण करने के लिए जो लोग अभी से घर घर में वैदिक ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित करने के लिए प्रयत्नशील हो जाएंगे वे ही सच्चे अर्थों में वेद की अमृत-सन्तान कहलाएंगे तथा ज्ञानस्वरूप परमात्मा का आशीर्वाद प्राप्त करेंगे।

परिवार का प्रत्येक सदस्य वैदिक भाषा का ज्ञाता एवं वेद का नित्य स्वाध्याय करने में सक्षम हो, इसके लिए क्या उपाय संभव हो सकता है? इस समस्या का एक ही व्यावहारिक उपाय है—पहले प्रत्येक परिवार के हर-एक सदस्य के के लिए संस्कृत भाषा के ज्ञान को अनिवार्य बनाना और प्रत्येक ग्राम एवं नगर में एक वा अनेक वैदिक केंद्रों की स्थापना करना। आर्यजाति में अपने धर्म और संस्कृति के प्रति सच्चा स्वाभिमान तथा श्रद्धा हो तथा उनमें वेद का अध्ययन करने की सच्ची लगन एवं तत्परता हो तो कुछ ही वर्षों में परिवार का प्रत्येक व्यक्ति इन वैदिक स्वाध्यायकेन्द्रों की सहायता से वैदिक ज्ञान से युक्त हो जाएगा।

३) वैदिक स्वाध्याय के ये केन्द्र वेद का सुबोध शैली में अध्यापन करने तथा प्रत्येक परिवार को वैदिक जीवन एवं संस्कृति के साथ संयुक्त रखने का कार्य जन-सामान्य के स्तर पर ही कर सकेंगे। पर वेदप्रसार का विशेष कार्य तो साङ्गोपाङ्ग वेदों की आज के ज्ञान और विज्ञान से संयुक्त शिक्षा देने के लिए, पृथक् रूप से स्थापित विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों एवं अनुसन्धानकेन्द्रों में होगा। संस्कृत-विषयक किसी उपाधि-परीक्षा के एक पत्र के रूप में आज वेद पढ़ा वा पढ़ाया जाता है। सम्पूर्ण वेदों के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन की स्वतंत्र रूप से कहीं व्यवस्था नहीं है। उपाधि-परीक्षा के लिए वेदों का अध्ययन-अध्यापन भी उस पाश्चात्य दृष्टिकोण से होता है जो अध्येता को दिग्भ्रमित कर वेद एवं वैदिक साहित्य के प्रति अश्रद्धालु बना देता है। इस पाश्चात्य मत के वेदाभ्यास की शैली का आरंभ मॉक्स म्युलर ने किया था। उन्होंने वेद के अर्थ, आदि, सच्चा ज्ञान पाने वा देने के लिए नहीं अपि तु, भारत में ईसाई-प्रचार में लगे हुए उन पादरियों की सहायता के लिए किए थे जो, वेद से शून्य होने के कारण दयानन्द के वेदमूलक तर्कों का उत्तर देने में असमर्थ थे। उन्हीं की सहायता के लिए मॉनियर

---

१ सातवलेकर और 'विदेह' के कार्य विशेष रूप के स्तुत्य हैं। 'विदेह' ने अपने प्रवचनों तथा व्याख्याओं द्वारा वेदवाणी को जनसामान्य के लिए सुगम और सुबोध बनाने का विशेष कार्य किया है तथा 'वेद-संस्थान' की स्थापना करके विश्व में वेद-प्रसार के कार्य के लिए ठोस नींव रख दी है।

विलियम्स ने संस्कृत-अंगरेज़ी-कोष की रचना की। अतः इस[2] पाश्चात्य मत की वेद-विषयक व्याख्याएं, पूर्वाग्रह, द्वेष तथा क्रिश्चियन दृष्टिकोण पर आधारित होने के कारण, सत्य ज्ञान के जिज्ञासु के लिए, ग्राह्य नहीं हैं। वेदों का सही अर्थ जानने के लिए भारतीय परम्परा की व्याख्यापद्धति को, तथा वैदिक शिक्षण-संस्थाओं में भारतीय संस्कृति के वातावरण को ग्राह्य बनाना होगा।

४) वैदिक स्वाध्याय की परम्परा के विच्छिन्न होने का एक कारण, वैदिक भाषा को गौण बनाकर, लौकिक संस्कृत भाषा तथा उसमें लिखे व्याकरण, दर्शन, काव्य, ज्योतिष, आदि विषयों के अध्ययन को प्रमुखता देना था। वैदिक स्वाध्यायकेन्द्रों की अध्यापनपद्धति में वैदिक भाषा के प्रशिक्षण की प्रमुखता होगी तथा व्याकरण की शिक्षा में वैदिक उदाहरणों की बहुलता होगी।

जन सामान्य को वैदिक मंत्रों के अर्थ और विषय प्रायः इसलिए दुर्बोध वा कठिन प्रतीत होते हैं क्यों कि लोग वैदिक भाषा और वैदिक विषय-वस्तु से परिचित नहीं हैं। लौकिक संस्कृत के अभ्यासी को भी इसी कारण वेद कठिन प्रतीत होता है। लौकिक संस्कृत के विषय अधिकतर स्थूल हैं और शब्दों में भी रूढ़ वा वाचिक अर्थों की प्रधानता है। अतः लोकपरम्परा द्वारा परिचित होने के कारण स्थूल बुद्धि इनका ज्ञान शीघ्र प्राप्त कर लेती है। वेद के शब्दों और धातुओं में प्रतीकों तथा संकेतों की प्रधानता है। ये अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म, तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण स्तरों के साथ संश्लिष्ट भाव से जुड़े हुए हैं। वेद का विषय, आपाततः लौकिक प्रतीत होते हुए भी सृष्टिविज्ञान, आत्मविज्ञान, देवता-विज्ञान, यज्ञ, आदि अनेक सूक्ष्म एवं गहन विषयों की संकेतात्मक विवेचना करना है। ऐसे विषयों को ग्रहण करने के लिए तपःपूत, संयमवती, सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण प्रज्ञा की आवश्यकता है। वेद का विषय ब्रह्मसहित सम्पूर्ण विश्व है। पृथ्वी और द्यौ के बीच जितने पदार्थ, जितने लोक और उसकी सत्ताएं, विकास की जितनी अनन्त संभावनाएं तथा ब्रह्माण्ड का जितना विधान है, सब वेद की विद्या के अंतर्गत आता है। वह केवल पदार्थ का अध्ययन नहीं करता, पदार्थों की संरचना के परे उनकी नियामिका शक्तियों, शक्तियों के मूल, चेतना की प्रकृति और उसकी अनन्तता, तथा अमरता के शाश्वत आनन्द का भी ज्ञान प्रदान करता है। संक्षेप में कहें तो **अनन्त में पूर्णत्व का ज्ञान और उसकी प्राप्ति के साधन वेद का विषय हैं**। वेद की भाषा और विषय परिचय तथा अभ्यास के अभाव में ही कठिन प्रतीत होते हैं। अन्यथा ये, समस्त-पदप्रधान एवं अलंकृत संस्कृतभाषा की अपेक्षा, अधिक सुगम और सुबोध हैं। वैदिक भाषा के अध्ययन का आरंभ में अभ्यास कराने पर इस भाषा के संस्कार मन और बुद्धि में दृढ़ हो जाएंगे तथा यह भाषा सुगम प्रतीत होने लगेगी।

५) प्रत्येक के लिए संस्कृतभाषा के शिक्षण की अनिवार्यता पर चौंकना नहीं चाहिए और न इसे उपहास में उड़ा देना उचित है। संस्कृतभाषा के शिक्षण के साथ आर्य संस्कृति, आर्य धर्म, आर्य मर्यादा और आर्यों के धर्मग्रन्थ की सुरक्षा की गम्भीर समस्या जुड़ी हुई है। विश्व की प्रत्येक स्वाभिमानी जाति और मज़हब अपनी अपनी भाषा की सुरक्षा तथा समृद्धि में लगा हुआ है। यहूदियों ने मृतप्राय हिब्रू भाषा को पुनः जीवित कर जीवन के सब क्षेत्रों में उसे व्यवहार की समर्थ भाषा बना दिया है। बौद्ध पालिभाषा का सादर अध्ययन करते हैं। क्रिश्चियन को अंगरेज़ी भाषा को अपनाने में गर्व अनुभव होता है। मुसलमान किसी भी देश का वासी हो, क़ुरआन को पढ़ने के लिए अरबी लिपि सीखता है। स्कूल-कॉलेज की शिक्षाप्राप्ति के साथ साथ इस मज़हब के लड़के-लड़कियां रात्रि-कालिक धार्मिक विद्यालयों में जाकर अपने धार्मिक ग्रन्थों और कर्मकाण्डों की शिक्षा प्राप्त करते हैं। तो किसी आर्य को संस्कृतभाषा को सीखने में हीनता का अनुभव क्यों होता है? उसे संस्कृत-

२ एक अन्य पाश्चात्य दृष्टिकोण वैदिक सत्य के कहीं निकट है। इसके प्रतिपादक कुमारस्वामी जैसे गिने-चुने विद्वान् हैं। —**सम्पादक**

भाषा को सीखने में गौरव, तथा उसका ज्ञान न होने में हीनता का अनुभव होना चाहिए। संस्कृत-भाषा और वेदज्ञान से रहित होकर आर्य न केवल अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक परम्परा से विच्छिन्न हो गया है, वह धर्म के रहस्यों से अपरिचित एवं अध्यात्म संस्कारों से रहित होने के कारण अपनी जातीय विशेषता को भी गंवा बैठा है।

६) अतः प्रत्येक परिवार में संस्कृत भाषा तथा वेदों के ज्ञान की पुनः स्थापना के लिए स्थान स्थान पर वैदिक स्वाध्यायकेन्द्रों की स्थापना ही एक व्यावहारिक एवं समर्थ उपाय प्रतीत होता है। इस योजना का एक संक्षिप्त प्रारूप वेदनिष्ठ जगत् के सम्मुख, विचार कर क्रियान्वित करने के लिए, प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. वैदिक स्वाध्यायकेन्द्रों की स्थापना विभिन्न धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक संस्थाओं, पुस्तकालयों में हो सकेगी। इन केन्द्रों का एक निश्चित पाठ्यक्रम हो विभिन्न वर्गों में संस्कृतभाषा तथा वेदों के अध्यापन का। ये केन्द्र संध्याकालिक विद्यालयों के रूप में कार्य करें। अध्यापन-काल दो या ढाई घण्टे का हो। इनमें सब आयु और वर्ग के नर-नारी बिना किसी भेदभाव के अध्ययन कर सकें। अध्यापन का कार्य स्थानिक विद्वानों वा पुरोहितों के सहयोग से हो। जहां ऐसी व्यवस्था न हो सके वहां प्रादेशिक वा केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा अध्यापक की नियुक्ति का प्रबंध करें। अध्यापक को कार्यकाल के अनुसार योग्यतानुकूल सन्मानार्ह धनराशि, वा आंशिक अथ वा पूर्ण वेतन, देने की व्यवस्था हो। प्रत्येक केन्द्र को अपना व्यय पूरा करने के लिए आवश्यक धनराशि को जुटाने का स्वयं प्रयत्न करना होगा। एक स्थायी संचित कोष की स्थापना करने के बाद केन्द्र की स्थापना करना उत्तम रहेगा।

२. वैदिक स्वाध्यायकेन्द्रों का पाठ्यक्रम तीन वर्षों का हो। पाठ्यक्रम छह वर्गों में विभाजित हो। प्रत्येक वर्ग का पाठ्यक्रम छह मास का हो। पाठ्यक्रम इस रूप में बना हो कि उसके नित्य अभ्यास के द्वारा तीन वर्षों में संस्कृतभाषा एवं वेद तथा वैदिक साहित्य का समुचित ज्ञान हो जाए। यह एक संक्षिप्त पर व्यावहारिक तथा संकेन्द्रित अध्ययन का पाठ्यक्रम (a brief but practical and condensed course of Vedic Studies) होगा।

३. वैदिक स्वाध्यायकेन्द्रों में संस्कृतभाषा के ज्ञान के लिए जो व्याकरण पढ़ाया जाए उसमें वैदिक शब्दावली, वैदिक धातुओं और वेदमंत्रों के उदाहरणों की प्रधानता हो। लौकिक संस्कृत के ज्ञान के साथ वैदिक भाषा और साहित्य का ज्ञान देने की प्रमुखता हो। वेदों के अर्थों का अध्यापन आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विषयों से समन्वित, तर्क-सम्मत, तथा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति का मार्गदर्शक हो। मंत्रों का अध्यापन करते समय तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं समन्वयात्मक अध्यापन-शैली का अवलम्बन किया जाए। प्रत्येक मंत्र के अर्थ का अध्यापन करते समय उसके शब्दों और क्रियापदों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करने के साथ ही उसके छन्द, ऋषि, देवता एवं प्रतीकात्मक संकेतादि का विवरण भी प्राचीन वाङ्मय के आधार पर दिया जाए। जहां आवश्यक हो वहां मंत्र के विषय से सम्बन्धित भाषाविज्ञान, यज्ञविद्या, प्रकृतिविज्ञान, अध्यात्म विज्ञान, आदि का भी दिग्दर्शन करा दिया जाए। जहां तक सम्भव हो प्राचीन और नवीन वैदिक-व्याख्या-सरणि का सन्तुलित एवं समन्वित रूप से अनुसरण किया जाए। अध्ययन और अध्यापन जीवन के व्यापक व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित रहें तथा उनकी रोचकता बनी रहे, इस पर विशेष दृष्टि रखी जाए।

४. प्रत्येक वर्ष का पाठ्यक्रम समाप्त होने पर लिखित तथा मौखिक परीक्षा लेने की व्यवस्था हो। उत्तीर्ण व्यक्तियों को प्रमाणपत्र दिए जाएं। केंद्र के प्रत्येक छात्र को जीवन-भर वेदों के नित्य स्वाध्याय करने का व्रत ग्रहण करना होगा।

५. प्रत्येक केंद्र में एक उच्च कोटि का पुस्तकालय हो। इसमें वैदिक अध्यापन से संबंधित वेदादि सब विषयों के उच्च कोटि के ग्रन्थ तथा पत्र-पत्रिकाएं सुलभ हों।

६. स्वाध्यायकेंद्रों के सुगठित और सुस्थापित हो जाने पर उनमें अध्यात्म-साधना के प्रशिक्षण के केंद्र भी स्थापित किए जा सकेंगे। बड़े नगरों में एक से अधिक भी स्वाध्यायकेंद्रों की स्थापना हो सकेगी।

७. इन स्वाध्यायकेंद्रों में समय समय पर वैदिक ज्ञान संबंधी प्रतियोगिताएं, संभाषा-गोष्ठियाँ तथा अन्य सांस्कृतिक समारोह केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के निश्चय के अनुसार प्राचार्य की अध्यक्षता में आयोजित किए जा सकेंगे।

८. जो स्वाध्यायकेंद्र अर्थदृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न हो जाएंगे वे केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा की अनुमति लेकर अपना स्वतन्त्र परिसर एवं भवन, आदि बनवा सकेंगे।

९. स्वाध्यायकेंद्रों की प्रगति पर दृष्टि रखने तथा उनकी उत्तम रीति से व्यवस्था करने के लिए स्थानिक, ज़िला, प्रदेश एवं केंद्र स्तर पर व्यवस्थापिका सभाएं होंगी। स्थानिक स्तर से प्रदेश स्तर तक की व्यवस्थापिका सभाएं केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के अधीन कार्य करेंगी। यह केंद्रीय सभा वेदाध्यापन के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित करेगी, अध्यापन-सामग्री तैयार करके अध्यापकों को उपलब्ध कराएगी तथा समय समय पर उनकी अध्यापन-कला को और अधिक उन्नत करने के उपाय सुझाएगी।

१०. जिन स्थानों में स्वाध्यायकेंद्रों की स्थापना के द्वारा वेदों के अध्यापन की व्यवस्था संभव नहीं होगी वहां के वेदनिष्ठ परिवारों को पत्राचार पाठ्यक्रम के द्वारा संस्कृतभाषा और वेद को अध्ययन करने का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था केन्द्रीय सभा करेगी।

७) मेरा विश्वास है कि सम्पूर्ण भारत एवं विश्व में इस प्रकार के वैदिक स्वाध्यायकेन्द्रों की शृंखला की स्थापना के द्वारा घर घर में वैदिक स्वाध्याय की परम्परा का आरंभ हो सकेगा तथा प्रत्येक परिवार के वातावरण में प्रातः और सायं वेद की पावन ध्वनि गूंजा करेगी। ये स्वाध्यायकेंद्र विश्व में वेदप्रसार के कार्य की दृढ़, गंभीर नींव का काम देंगे। इनके द्वारा 'कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्', यह आदर्श चिराकांक्षित स्वप्न साकार होगा।

वेदप्रेमी जन आगे आएं। दृढ़ संकल्प और परम उत्साह के साथ इन स्वाध्यायकेन्द्रों की स्थापना में जुट जाएं। इतिहास साक्षी है कि उत्तम लक्ष्य की पूर्ति के लिए समर्पित होकर आगे बढ़नेवालों के लिए धन की कमी नहीं रहती। कन्याकुमारी की प्रस्तर-शिला पर निर्मित विवेकानन्द का स्मारक-मन्दिर इसका प्रमाण है। जयघोष से निनादित वेदप्रसार का विश्वरथ जब 'घर्घर' ध्वनि करता हुआ आगे बढ़ेगा तब मन्दिरों में संचित करोड़ों की सम्पदाएं इस पर निछावर होकर धन्य हो जाएंगी तथा धनकुबेरों की निधियां इस रथ के आगे लोट-पोट होकर अपने को पूत समझेंगी।

याजक का जीवन

म. दयानन्द
वैदिक साधन आश्रम, तपोवन, नालापानी, देहरादून

(वेद-संस्थान, नई दिल्ली में हुआ प्रवचन। —सम्पादक)

ऋतं शसन्त ऋजु दीध्याना, दिवस् पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदम् अङ्गिरसो दधाना, यज्ञस्य धाम प्रथमंम नन्त। ऋग्वेद १०.६७.२; अथर्ववेद २०.६१.२

(दिवः असुरस्य) दिव्य देव के (वीराः, अङ्गिरसः पुत्रासः) वीर [और] अङ्गिरा पुत्र (ऋतम् शसन्तः) ऋत की प्रशंसा करते हुए, (ऋजु दीध्यानाः) ऋजु का ध्यान करते हुए, (विप्रम् पदम् दधानाः) विप्र पद को धारण करते हुए, (यज्ञस्य प्रथमम् धाम) यज्ञ के प्रथम धाम को (मनन्त) करते हैं।

आदरणीय महानुभावो और पूज्य माताओ !

आज युग कम्पीटीशन का चल रहा है। और जो उमंगवाला इंसान फ़र्स्ट डिवीज़न में पास न हो उसके लिए आगे गुंजाइश नहीं है। और वेद को भी यही सूझी। यह एक वेदमंत्र है जो ऋग्वेद में भी आया है और अथर्ववेद में भी है। **यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त**। उस याजक को मैं फ़र्स्ट डिवीज़न में मानता हूं जिसके अन्दर निम्न प्रकार के गुण होंगे या साधना करता होगा।

तो मंत्र में पहली चीज़ बाहर की है। बाह्य जीवन उसका कैसा होना चाहिए ? तो वेद ने कहा **ऋजु दीध्यानाः**। वह सरलता है, सादगी है। सादगी कोई कम सौन्दर्य नहीं होती। सरलता एक इंसान की कितनी बड़ी शोभा है ! वह अपने जीवन में बनावट नहीं करता परन्तु ईमानदारी से अनुशासन में रहते हुए जैसा उसका कर्तव्य है वैसे उसको करता चला जाता है। तो याज्ञिक जीवन के अन्दर यदि बनावट, दिखावा है तो यह तो एक प्रकार का दंभ ही है। जो असलियत से अपने आपको ज्यादा करके बताना है ये भी तो असत्य की कोटि में ही आता है। परन्तु जो सच्चे हृदय से यज्ञ करनेवाला होता है उसके अन्दर तो विनम्रता कूट कूट-कर भर रही होती है। क्यों कि यह यज्ञ, परमेश्वर, न जाने, किन कर्मों के पश्चात् हमको यह स्थिति देता है। कल्पना करो, इस वक्त चार अरब मनुष्यों की संख्या हमारी इस पृथिवी के ऊपर है। कितने लोग यज्ञ करते हैं ? यह जो भगवान् ने मुझे यह अवसर प्रदान किया है, ऐसी प्रवृत्ति दी है, जो भी मेरे पास सामर्थ्य, शक्ति वा संपत्ति है, यदि उसको मैं यज्ञार्थ में लगा रहा हूं तो यह भी तो उसकी ही महान् देन है कि जिससे वर्तमान जीवन तो प्रशंसा पा रहा है और साथ ही साथ पर लोक का रास्ता भी बना रहा है। तो इस प्रकार की भावनाएं जिस वक्त उसके अन्दर आती हैं कि मैं अपने बलबूते पर नहीं कर रहा बल्कि कोई महान् शक्ति मुझे इस तरह से प्रेरणा दे रही है और उसी के आधार के ऊपर ही मेरा जीवन इस तरह से बनता जा रहा है, तो ज्यों आगे बढ़ता है त्यों विनम्र होता चला जाता है, और सरलता उसके अंदर आती चली जाती है।

तो हमारे जीवन के दो पहलू हैं, जैसे हर सिक्के के दो पहलू हैं। हमारा जहां बाह्य रूप इस प्रकार का हो, तो अन्तः जीवन कैसा होना चाहिए? उसके लिए उन्होंने बहुत ही सुन्दर, प्यारा अक्षर इस्तेमाल किया है, **अङ्गिरसः**। कि जैसे कोयला अंगारा बन जाता है जब, तो उसकी सम्पूर्ण कालिख उतर जाती है। उसके अणु अणु के अन्दर अग्नि प्रवेश कर चुकी हुई होती है। अब वो अग्नि का रूप बन गया होता है। तो जिस प्रकार अङ्गिरसः बनकर के अन्तःकरण में कभी स्वप्न में भी

किसी का अनिष्ट चिंतन नहीं होता है, किसी के लिए कुविचार उत्पन्न नहीं होते, तो कितना बड़ा भाग्यशाली और सोम्य मस्तिष्क वह होता होगा ? इसके दिमाग़ में किसी के लिए द्वेष की भावना ही नहीं उठ रही होती है ! वह अपने लिए अपकार करनेवाले के लिए भी उपकार की ही सदा सोचता है। तो कितना बड़ा अङ्गिरसः, कितना बड़ा वह याज्ञिक होगा जो इस चीज़ को नहीं देखता कि दूसरे मेरे प्रति क्या सोचते हैं, बल्कि यह देखता है कि मेरे मानवजीवन का कर्तव्य क्या है। तो इस प्रकार का व्यक्ति जितना अपने अन्दर पवित्रता को अन्दर से ही धारण कर रहा होता है, ऑटॉमेटिकली ही उसका व्यावहारिक जीवन बड़ा पवित्र होता चला जाता है। तो, यज्ञ जहां हम बाहर करते हैं, अपने इस भौतिक संसार को शुद्ध और पवित्र कर रहे होते हैं वहां अन्दर से जिस वक्त यज्ञ आरंभ हो जाता है तो विश्वमण्डल की भी विचारधाराओं को शुद्ध करने के लिए उसमें सामर्थ्य आ पाती है।

तो इस प्रकार का जीवन बिताने में कोई लाभ या उसका चिह्न क्या है ? तो यह भी इस मंत्र के अंदर बतलाया गया है कि इस याज्ञिक का, जिसने अपने जीवन को इस प्रकार से सरल बनाया होगा, जिसने अपने जीवन को इस प्रकार से अन्तःकरण से तपस्वी बनाया हुआ होगा, तो उसका सबसे पहला चिह्न यह होगा —असुरस्य, कि उसको अपने प्राणों की चिन्ता नहीं होगी। जब मैं अपने आपको इस शहर के डिप्टी कमिश्नर का मित्र बना लेता हूं तो मुझे इस शहर में किसी चोर से भय नहीं होगा, कि मेरी रक्षक एक महान् शक्ति खड़ी हुई है।इसी तरह से जिस याज्ञिक ने अपने आपको अन्दर और बाहर से परमेश्वर को समर्पित कर दिया और अङ्गिरस कोटि के अन्दर आ गया उसके अंग अंग से संसार के प्राणिमात्र के लिए प्यार की भावना ज्योति सी नजर आती है। उसका चिह्न यही होता है कि जीवन के अंदर उसको प्राणों की चिन्ता नहीं रहती। यही चीज़ हम रोज़ संध्या के पहले मंत्र के अंदर कहते हैं, कि हमारे ऊपर चारों तरफ़ से सुख की वर्षा हो। तो सुख की वर्षा का उपाय क्या है ? कोई कार्य कारण के बग़ैर तो होता नहीं। यह हमारे आर्यों का सिद्धान्त है। तो हमारे अन्दर सुख की वर्षा होगी तभी, जब अन्दर से तू किसी के लिए अनिष्ट का चिन्तन नहीं करेगा। और दूसरी, सुख की वर्षा तभी होगी जब अपने प्राणों की रक्षा के लिए दूसरों के प्राणों का हरण करने की चेष्टा नहीं करेगा। तो ये उसका सबसे पहला चिह्न होगा।

अंतिम स्थिति हमारी, मानवजीवन की ऊंचाई से ऊंचाई, क्या है ? तो ऊंचाई से ऊंचाई यही है कि हम अदीन हो जाएं, अभय हो जाएं। हम जिस कार्य को कर रहे हैं उसके अंदर अवश्यमेव यदि हमें कर्तृत्व-अभिमान रहता है तो हम भयमुक्त नहीं होते। यदि उसके अन्दर मुझे ममत्व रहता है तो, निस्सन्देह, आसक्ति मेरे लिए दीनता का कारण बनती है। तो जिस वक्त वह परमेश्वर के अर्पित हो गया उस वक्त उसका सबसे पहला चिह्न यह है। इंसान की अंतिम आसक्ति अपने प्राणों से होती है। स्टेजज़् हैं ऐसी। तो इस प्रकार उसको कभी अपने प्राणों की चिन्ता नहीं होती। किसी भी स्थिति के अन्दर वह भयभीत नहीं हुआ करता। रक्षक जो पास खड़ा हुआ है। तो उसका एक सुन्दर प्रमाण है कि जिस वक्त महर्षि दयानन्द को मारने के लिए लोग चारों तरफ़ से तैयार हुए तो वाइसराय, जो उस समय सबसे ऊंचा था भारतवर्ष में, वह कहता है कि मैं आपके पीछे एक पुलिस की गारद लगा दूं। तो हंस करके जवाब देता है कि मुझे तेरे पुलिस की गारद की ज़रूरत नहीं है। तो फिर तुम्हारी रक्षा की ज़िम्मेवार कोई और शक्ति है ? 'तेरी पुलिस की गारद को तो कोई ख़रीद सकता है, या वह अपने कर्तव्य से ग़ाफ़िल भी हो सकती है पर मेरे पीछे वह शक्ति खड़ी है जो कभी मेरा साथ नहीं छोड़ती और कभी ग़ाफ़िल भी नहीं होती।

श्रद्धा

बद्रीप्रसाद पंचोली एम ए, पीएच डी

श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः । श्रद्धां भगस्य मूर्धनि, वचसा वेदयामसि । ऋग्वेद १.१५१.१

श्रद्धया अग्निः सम्-इध्यते श्रद्धया हूयते हविः । श्रद्धाम् भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ।

१ (श्रद्धया अग्निः सम्-इध्यते) श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित की जाती है ।

२ (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धा से [यज्ञ में] हवि समर्पित की जाती है ।

३ (भगस्य मूर्धनि श्रद्धां वचसा वेदयामसि) ऐश्वर्य के मस्तक पर श्रद्धा को [प्रतिष्ठित कर] वाणी से कहती हूं ।

श्रद्धा के वचन सुनो । इनका लक्ष्य भी श्रद्धा है । क्या है श्रद्धा ? श्रत् को धारो—श्रत्+धा=श्रद्धा । श्रत् क्या? सत् ही है । 'एकं सत्' सब कर्तव्य कर्मों का लक्ष्य होता है। उस लक्ष्य—सत् को धारण करने से श्रद्धा का जन्म होता है । सत् या 'एकं सत्'—लक्ष्य; और उसका मार्ग—श्रद्धा । लक्ष्य का जो रूप पकड़ में आ जाता है, लक्षित हो जाता है – वह है सत्य । ऐतरेयब्राह्मण में श्रद्धा और सत्य को उत्तम मिथुन (जोड़ा) कहा गया है—यजमान और यजमान-पत्नी की तरह । सत्य आचरण में ढलता है तो विश्वास बन जाता है । श्रद्धा और विश्वास के जोड़े को भी अनेक बार स्मरण किया जाता है ।

मन में कोई भी इच्छा जागे, उसकी शुचिता का विधान श्रद्धा करती है । वह हर कर्तव्य कर्म की नियामक होती है । कामना को कर्म में बदलने का काम श्रद्धा करती है । कर्म में ही क्यों, उसे अन्तिम लक्ष्य –'एकं सत्' से जोड़ देती है । इससे साधारण काम भी 'सर्वश्रेष्ठ कर्म'—यज्ञ बन जाता है ।

हवन नित्य कर्म है । कितना संक्षिप्त; पर कितना सार्थक । एक नाटक; पर बड़ा पवित्र नाटक । नाटक किसका ? वही श्रद्धा और सत् या सत्य का, मंज़िल और राह का, लक्ष्य और विधान का । लक्ष्य के अनेक नाम हो सकते हैं । इस मंत्र की देवता श्रद्धा है । वह भी मार्ग से लक्ष्य बन गई है ।

यज्ञवेदि पर अग्नि प्रज्वलित की गई । इस क्रिया के माध्यम से सत् या सत्य को पकड़ना है । कैसे पकड़ पायेंगे ? श्रद्धा से । श्रत् (सत्) को धारण करके अग्नि प्रज्वलित की जाएगी तो लक्ष्य की ओर उन्मुख होने का अद्भुत उत्साह मन में भरा होगा । हवन की एक-एक क्रिया दिव्य भावना से अनुप्राणित करने लगेगी । अग्नि में जो हवि समर्पित की जाएगी वह सम्पूर्ण भाव से आत्म-निवेदन करने की सार्थक क्रिया बन जाएगी । 'इदं न मम'– जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि बन जाएगा । सम्पूर्ण जीवन दक्षिणा बन जाएगा—आत्मदक्षिणा होना ही तो यज्ञ का लक्ष्य है । इष्ट देव परमपिता परमेश्वर के प्रति समर्पित होकर जीना ही तो जीना है । श्रद्धा से ही ऐसा हो सकता है ।

यज्ञ से भौतिक उपलब्धियां भी कम नहीं होतीं । खेती करोगे तो अन्न उपजेगा ही । व्यापार करोगे तो अर्थलाभ होगा ही । अन्न और धन का उपयोग करके अन्न और धन अधिकाधिक बढ़ाया जा सकता है । पर, श्रद्धा तो वहां भी आवश्यक है । श्रद्धा के बिना आत्मविश्वास कहां से आयेगा ? काम करने की उमंग कैसे जागेगी ? अतः भौतिक उपकरण और भौतिक उपलब्धियां श्रद्धा से बड़े नहीं हैं । श्रद्धा ही शीर्षस्थ है । ऐश्वर्य उसका अनुगामी है । वाणी की सार्थकता भी श्रद्धा को सर्वोपरि कहने में ही है ।

श्रद्धा से हो अग्नि समिद्ध,
श्रद्धा से हवि का अर्पण ।
श्रद्धा भग के शीश विराजित,
वाणी सार्थक श्रद्धा-मित ।

शारीरिक पुष्टि

हरिवंशलाल मेहता 'वेदमनीषी'
८ बी, सिंगार नगर, लखनऊ ५

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः, सं मा सृजाम्य् अद्भिर् ओषधीभिः।
सोहं वाजं सनेयम् अग्ने ! यजुर्वेद १८.३५

(अग्ने) प्रभो ! (पृथिव्याः पयसा) पृथिवी से उत्पन्न हुए रसों से (मा सम् सृजामि) अपने (शरीर) को मैं पुष्ट करता हूं। (अत्-भिः, ओषधीभिः) जलों से, ओषधियों से (मा सं सृजामि) अपने को मैं बनाए रखता हूं। (सः अहम् वाजम् सनेयम्) वह मैं ज्योति-शक्ति-संग्राम का सेवन करूं, संपादन करूं।

जीव भोक्ता है, खानेवाला है। बिना खाए पिए इसका चलने-फिरनेवाला शरीर-रूप मकान बेकार है। पड़े रहनेवाले, मिट्टी तथा सीमेण्ट, आदि से बने मकान भी निरन्तर सफ़ाई, पुताई, आदि मांगते हैं। तो चलने-फिरनेवाले मकान बिना तेल के कैसे चलें ? देखना यह है कि इस शरीर-रूप मकान का तेल अथ वा भोजन क्या हो सकता है।

संसार में जितने प्राणी हैं उन सबका भोजन समान नहीं है पर क्या खाया पिया जाए, इस संबंध में पशु, पक्षी, कीट, पतंगों की कोई समस्या नहीं। वे सब निश्चित प्रकार का ही भोजन सेवन करते हैं। हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, ऊंट, भेड़, बकरी, गधा, ख़च्चर, आदि पालतू पशु भूसा, घास, पत्ते, फल, ओषधियां, वनस्पतियां ही सेवन करते हैं, चाहे ये किसी देश के हों। इसी प्रकार, वन-पशुओं—शेर, चीता, भेड़िया, आदि चाहे किसी भी देश के वनों में रहते हों उनका भोजन मांस ही है। कुछ अन्य पशु, यथा, कुत्ते, बिल्ली, आदि तथा कीट, पतंग, दोनों प्रकार का भोजन कर लेते हैं जो भी उपलब्ध हो।

समस्या केवल बुद्धिजीवी मनुष्यों की है। ये अपना भला बुरा सोचने समझने में स्वयं समर्थ हैं। इन्हें शरीर की पुष्टि के लिए क्या चाहिए, ये क्या खाएं, क्या पिएं, इसका निर्णय अपने शरीर की बनावट को देखकर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना होगा कि ऐसा कुछ न खाया पिया जाए जिससे, मानवता के स्थान पर उनमें पशुता आने लगे क्यों कि कोई भी मानव पशु बनना नहीं चाहता। पशु बहुत आवश्यक हैं। मनुष्य के लिए बड़े उपयोगी हैं। वे हमें प्रिय भी हैं। पर वे कितने मुहताज हैं ! कितनी सीमित दुनिया है पशुओं की ! एक छोटा सा बालक बीसों भैंसों को हांके ले जाता है। एक खूंटे से, रस्से वा संगल से पशु घण्टों बंधा रहता है। आयु-भर की क़ैद को भोगना किसको अच्छा लग सकता है ? पूरी आयु एक ही प्रकार का भोजन किए चले जाना, कोई परिवर्तन नहीं, कोई इच्छा नहीं, कोई आकांक्षा नहीं, कोई स्वतन्त्रता नहीं ! भला स्वतन्त्र, बहु-आकांक्षी मानव अपनी उच्च स्थिति से घटिया स्थिति में आना क्यों चाहे ? पर हमारे चाहने-मात्र से तो कुछ होता नहीं। हमारे अधिकार में बहुत कुछ है पर सब कुछ नहीं। खाए पिए का प्रभाव केवल हड्डियों तथा शरीर के मांस तक ही पड़ता हो, ऐसा नहीं है। यदि हम कुछ दिन खाने पीने की हड़ताल कर दें तो क्या हमारा मन कुछ भी मनन करना चाहेगा, क्या हमारी बुद्धि सोचने में कुछ भी समर्थ होगी ? हम खाते पीते हैं तभी तो मन बुद्धि पुष्ट होते हैं अन्यथा मनन और चिन्तन भी जाता रहता है। और फिर भिन्न भिन्न प्रकारों के भोजनों का समान प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता। हर वस्तु का अपना अपना गुण है। तदनुसार उसका अच्छा बुरा, अनुकूल प्रतिकूल प्रभाव सम्पूर्ण शरीर, अर्थात्, शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, सब पर पड़ता है। हमारे स्वभाव, संस्कार, वृत्तियां, सब पर यह प्रभाव सूक्ष्म रूप से पड़ता है।

इस संबंध में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि हम जो खाते पीते हैं वह वस्तु हमारे अधिकार में किन उपायों से तथा किस नीयत से आई है। नीयत तथा उपाय का स्वभाव को बनाने में बहुत बड़ा योग है। जो वस्तु हमारे प्रयोग में आनेवाली है उसे प्राप्त करने में हमारा परिश्रम कितना था, उस पर अनधिकार क़ब्ज़ा तो हम नहीं कर रहे, उसकी प्राप्ति परहानि से तो नहीं हुई, किसी को सताकर, कष्ट पहुंचाकर छीना-झपटी से, मार-धाड़ करके, क्रूरता से, केवल निजी स्वार्थ को ध्यान में रखकर यदि कोई वस्तु हम सेवन करते हैं तो उससे हमारे मन, हमारी बुद्धि पर तथा चित्त की वृत्तियों पर कुप्रभाव पड़ता है। अतः मनुष्य कहलानेवाले बुद्धिजीवी को इन सब बातों का ध्यान रखकर ही कोई चीज़ मुंह में डालनी चाहिए।

क्यों कि हम सामर्थ्यवान हैं, क्यों कि हम पैसेवाले हैं,—चो चाहें ख़रीद सकते हैं—हमें जो स्वादिष्ठ लगे, जिससे हम ताक़तवर बन सकें वह हम खा लेते हैं। इतना ही नहीं, कुछ पशु पक्षी तो पाले ही इसलिए जाते हैं कि उनसे मांस, चर्बी, इत्यादि अधिक मिलेगी और उससे हम पुष्ट और शक्तिशाली होंगे। हम तब यह भूल जाते हैं कि हर प्राणी का शरीर मिट्टी से ही बना है। अतः इसको मिट्टी से उपलब्ध होनेवाले पदार्थ ही चाहिएं। और वे भी तब सेवनीय होंगे जब हम परिश्रमपूर्वक, बिना परहानि किए उन्हें प्राप्त करेंगे। हम अपने मकान की मरम्मत किसी दूसरे, अपने से छोटे मकान को तोड़कर नहीं करते। तो भला जिन प्राणियों का शरीर इसी मिट्टी से बना है जिससे हमारा बना है तो हम कैसे बुद्धिजीवी हैं कि अपने से कमज़ोर तथा बेज़ुबान प्राणी के शरीर को तोड़कर अपने शरीर को पुष्ट करने में हम कोई हानि नहीं समझते। चाहिए तो यह कि हम धरती से उपलब्ध होनेवाले अन्न, ओषधि-वनस्पति, फल-फूल, जल, रस, इत्यादि अपनी प्रकृति के अनुकूल पड़नेवाले पदार्थों का ही शुद्ध तथा पवित्र ढंग से सेवन करें। और सेवन भी उसका ही करें जिसके उत्पादन में भी हमारा कुछ योगदान हो।

कहनेवाले कहते हैं कि पशु-पक्षी तथा जलचरों के खानेवाले मनुष्य एक से एक बढ़कर बुद्धिजीवी पाए जाते हैं। इसमें क्या सन्देह है! क्या पशु-पक्षी, जलचर कम बुद्धिमान् हैं? पर वे जैसे हैं उनका सेवन करनेवाले भी वैसी ही मति को अधिकांश में लिए हुए हैं। ऐसे ही जनों द्वारा सागर की छाती पर तैरनेवाले जलपोत ही नहीं बनाए जाते। टारपीडो करनेवाली, विनाश करनेवाली नई नई प्रकार की पनडुब्बियां जलचरों के संस्कारों का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आकाश में उड़नेवाले पक्षी जिस प्रकार लम्बी तथा ऊंची उड़ान उड़ते हैं तथा झपाटा मारकर अपने शिकार पर टूटते हैं, नई नई शक्तियों से लैस आधुनिक बॉमर उन्हीं पक्षियों के संस्कारों का फल हैं। मुर्ग़, मुर्ग़ियों के सेवन करनेवाले एक दूसरे को लड़ाने में नए से नए ढंग निकाल रहे हैं। राजनीतिक दल एक दूसरे को नीचा यूं ही नहीं दिखा रहे। वैर-विरोध, द्वेष के संस्कार पाशविक आहार के फल हैं। छल, कपट, धोखा, फ़रेब, मार-धाड़, हिंसा की हर क्षेत्र में बढ़ोत्तरी के पीछे हमारा हिंसापूर्ण ढंग से प्राप्त किया, मूक-बेज़ुबान प्राणियों का आहार कारण है। बस्तियों को उजाड़ना, आग से जलाना, ख़ून ख़राबा करना, ये क्या मानवता की बातें हो सकती हैं? आहार के बिगड़ जाने से सर्वत्र यह विनाश-लीला हो रही है। संसार का सबसे बड़ा विनाश मांस और मदिरा का सेवन है। यह हट जाए तो करोड़ों की बचत हो जाए, संसार का हर प्राणी भर-पेट भोजन करे और भयरहित होकर सुखमय जीवन व्यतीत करे। एक भारतवर्ष ही बचा था जो अहिंसा की आवाज़ उठा सकता था। वह भी अब पाशविक आहार का शिकार हो गया है। धरती स्वर्ग बनेगी, इसकी कल्पना करना भी अब व्यर्थ है। संसार के बनानेवाले सविता देव ने तो हमारे खाने पीने के लिए कहा था 'पयः पशूनां रसं ओषधीनाम्' (अथर्व) पशुओं का दूध तथा ओषधियों का रस तेरे लिए दे रहा हूं। काश, हम इस आदेश का पालन करनेवाले बनें।

VEDA-SAVITA
English Section : Vol 2, No 8-10 : Sept.,-Nov., 1983

The Veda, Sruti and Upavedas : 3

Fateh Singh, M A, D Litt
Veda-Samsthana, C 22, Rajori Garden, New Delhi 110 027

4. The Ayurveda deals with Ayu (life), the entire road to the absolute (*Parama*) aspect of the Deva (Atman, Agni). This is the long and lofty (*dirgham prataram*) life of immortality, full of higher activities, with dance and laughter[39], pointing to the affective (emotional) aspect, known as Gandharva of the Gandharva-veda. Here also exists the controlling circle (*paridhi*) of self-restraint, checking the approach of alien and hostile purpose to the basic *Artha* (desideratum) of that long and lofty aim.[40] This presents the synthesis of the Arthaveda with the Ayurveda, by warding off Death as if with a mountain.[40] Taking the Dhanu (the bow of Dharma) which had been earlier in the wrong hand of *Adharma* (now dead), man now wields it for the sake of sovereignty, vigour and strength, ensuring conquest of all the evil and contending foes.[41] It is a hint to the harmony of Dhanurveda with Ayurveda. This does not, however, mean the denial of the 'other' (*Apara*)—material life—to the natural 'old' (*Purva*) with which we are born, but the reconditioning of the three lives (*Ayumshi*) of congnition, conation and affection in such a way that ensures righteous (*sadhu*) passage of long and ripened life, characterised by regularity and self-control.[42] Also it does not amount to the widowing of the three aspects of Vak (cognition, conation and affection, conceived here as women), formerly wedded to the human soul, plunged in sensual pleasures of the 'other' (material) life, but their gradual ascent to the source (*Yoni*) at the eternal beginning (*agre*).[43]

Thus the Ayurveda aims at harmonising the contents of three lives, emanating from cognition, conation and affection, with the life as the collectivity that the Atharvaveda, of which this (Ayurveda) is an Upaveda, represents in full measure. The desired harmony is achieved by the medicine, called *bhesajam* or *osadhi*, which this upaveda prescribes and which, frequently expressed in all the Samhita texts, are elaborately and profusely depicted in the symbolism of the Atharvaveda. It is, however, as wrong to interpret the names of these medicines by their 'letter' as the names of the patients and ailments they are said to cure. They cannot be understood without

39 mrtyoh padam yopayanto yadaita, draghiya ayuh prataram dadhanah. pranco agama nrtaye hasaya, draghiya ayuh prataram dadhanah. RV X. 18.2; 3

40 imam jivebhyah paridhim dadhami, maisam nu gad aparo artham etam. satam jivantu saradah purucir antar mrtyum dadhatam parvatena. RV X. 18.4

41 dhanur hastad adadano mrtasyasme Ksatraya varcase balaya. atraiva tvam iha vayam suvira, visvah sprdho abhimatir jayema. RV X. 18.9.

42 ibid. 5-6 43 ibid. 7

knowing the 'spirit' behind the 'letter' of these symbols. For example, the basic medicine is the 'undivided principle' of our self, named *Aditi* and hence our self is the medicine of the self.[44] This medicine exists in the 'undivided' sheath, the home of the moral principle (*Rta*)[44], often called the *Vijnanamaya Kosa* or the integrated human personality, where ever-growing Vijnana (*Vijnanam brahma*) possesses *Yoga* (integration) as its Atman.[45] Being always in a flux of growth, Vijnanavadins, therefore, believed in the transitoriness of soul; elsewhere it was, like Vedic texts, signified by the symbol of 'waters' representing diversity in unity. As here one finds the aforesaid serinity (*sam*) of our integrated self (*yuh*), these 'waters' alongwith the serenity were conceived as medicine.[46] The same ideal later occurs in baptism of 'waters' given by John (Vedic *yuh na*, our integrated self.)

However, the ultimate source is *Anandam Brahma* (ever-growining blissful joy), to which Vijnanam Brahma serves as a stepping-stone.[47] It is the absolute Agni Deva (Atman), mentioned before. Therefore there is no wonder that the agni (fire), like waters, is spoken of as the medicine[46] par excellence and, in the Bible, it figures as the baptism of fire, administered by Christ who comes after John, but is superior to him, according to his own admission. The same Agni is the Surya for whose eternal vision, the 'waters' are said to provide the best medicine for human self, the patient.

Therefore, the medicines which the Ayurveda as the Upaveda of Atharvaveda was supposed to prescribe was the medicine of the integral man flowing from him as these 'waters' for the benefit of the entire human self.[48] They could assemble together in our most spiritually developed stratum, called *Vipra*, considered to be the son of Atharva, the symbol of our human collectivity, represented by Atharvaveda.[49]

44 urjam gavo yavase pivo attana, rtasya ya sadane kose audhve. tanur eva tanvo astu bhesajama, sarvatatim aditim vrnimaha. RV X. 100.10.

45 atma vijnanamayah...yoga atma...vijnanam yajnam tanute...vijnanam brahma ced veda. Tai. Up. II.4-5

46 Vrstvi sam yor apa usri, bhesajam syama marutah saha. RV V.53.14; apsu me somo abravid antar visvani bhesaja agnim ca visvasambhuvam. RV X.9.6

47 atmanandamayah...ananda atma...brahma puccham pratistha. Tai. Up II.5.1

48 apah prnita bhesajam, varutham tanve mama. jyok ca suryam drse. RV X.9.7

49. Yatransadhih sam agmata, rajanah samitav iva. viprah sa ucyate bhisag, raksohamivacatanah. RV X.97.6

Sanskrit is a World Language

by Hiranyappa
Bangalore

Most people will be surprised to hear that Sanskrit is now being taught in many Bulgarian schools. This is due to the discovery at a film-festival that Sanskrit and Bulgarian shared a large number of words. The film-festival was arranged by the Indian embassy in Sofia.

The Bulgarian audiences needed translations when films with Urdu titled were screened. But when "SPARSH" was shown, the audience cheered and shouted, "Touch". In Bulgarian language too, the word for touch is 'Sparsh'.

The Indian ambassador Shri Dev Rao was intrigued by the Bulgarian enthusiasm. He leafed through a Bulgarian lexicon. To his pleasant surprised, many of the words were the same as in Sanskrit. When the Bulgarian Government was informed of this fact, Sanskrit courses were promptly introduced in many schools. Sofia university has established a Department of Sanskrit. The response from the Bulgarian students has been very good.

Before going to Bulgaria, Shri Dev Rao was envoy in several South-East Asian countries. In Phillpines, he learnt to his amazement that a Vice-Chancellor was called "Guro". In Malaysia, even Muslims proudly call themselves "Bhumiputras" or 'Sons of the soil'. In Kampuchea, all official titles are in Sanskrit. It is much the same in Malayasia too. The Sultan is called "Paramshri". The Kampuchean head of state is styled "Rashtra-Purush".

The official bulletin of the Indonesian Defence Ministry is called 'Varta Yuddha'. The popular name for a car in Thailand is "Rath". The standard greeting is "Namaskar" In all these lands, 'Ramayana' and 'Mahabharata' are highly popular. Shri Dev Rao sadly contrasted the Sanskrit's plight in India.

—extract from *'The Organiser'*, 12.6.'83

धरती के धारक

कोमलभाई 'केश', एम ए
भारती-भवन, कौड़िया [आज़मगढ़] २७६ १४१

सत्यं बृहद् ऋतम् उग्रं दीक्षा तपो, ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्य, उरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ।। अथर्ववेद १२.१.१

सत्यम् बृहत् ऋतम् उग्रम् दीक्षा तपः ब्रह्म यज्ञः पृथिवीम् धारयन्ति । सा नः भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुम् लोकम् पृथिवी नः कृणोतु ।

१ (बृहत् सत्यम्) महान् सत्य, (उग्रम् ऋतम्) उग्र ऋत, (दीक्षा, तपः, ब्रह्म, यज्ञः) दक्षता, तप, ब्रह्म, यज्ञ (पृथिवीम्) पृथिवी को (धारयन्ति) धारण करते हैं ।
२ (सा) वह [पृथिवी] (नः भूतस्य, भव्यस्य) हमारे भूत [और] भविष्य की (पत्नी) रक्षिका [स्वामिनी है] ।
३ (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमारे लिए (लोकम् उरुम्) लोक को विस्तृत (कृणोतु) करे ।

१) विप्र 'एकम् सत्' को बहुत प्रकार से कहते हैं। सत् एक है जिसे कोई 'अग्नि' कहता है, कोई 'इन्द्र', कोई 'वरुण', कोई 'वैश्वानर', आदि । सत् के सूक्ष्म रूप को किसी स्थूल रूप के समक्ष रखकर तुलनात्मक दृष्टि से जो रूप स्थिर किया जाता है वह सत्य है । सत्यता की परख जीवन में सत्यशोध के समय स्वतः होती जाती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उस सत्य का शोधन मस्तिष्क एवं हृदय की समन्वित बुद्धि के साथ किया जाए । जो सत्य है वह शाश्वत है और वह सत् के योग्य है। सत्य जब जीवन का संविधान बन जाता है तब सत् के सूक्ष्म तत्त्व की ओर आन्तरिक प्रेरणा होती रहती है और वही नि-ष्ठा (नि-स्था), 'निरन्तर स्थिरीकरण' अथ वा ध्रुवता संज्ञा प्राप्त करती है । यही ध्रुवता पृथिवी की सार्वभौम ध्रुवता बनती है जो कालान्तर में यज्ञीय बनकर पृथिवी को धारण करती है ।

ऋत वस्तुतः अंगरेज़ी का right है । ऐतिहासिक घटनाओं का पुनरावर्तित होना और उसके समाधान की स्थिर एवं पूर्वकालिक रूपरेखा प्रस्तुत करना 'ऋत' है । ऋत अपनी उग्रता की सीमा में भद्र भी है । पृथिवी-तत्त्व का समीक्षण एवं पुनरीक्षण, मानवमस्तिष्क की सूक्ष्मदर्शिका बुद्धि से संबद्ध होकर जीवन में होता है । और उससे जिस सत्य की एकता में, 'सत्' के साथ युक्त होकर, मनुष्य वास्तविकता प्राप्त करता है वही ऋत है । 'ऋत' सत्य का परिणाम है जो कठोर अनुशासन से अपने पृथिवी-तत्त्व को स्थिर करके धारण करता है ।

दीक्षा बौद्धिक दक्षता से युक्त व्रती के जीवन में व्रत का परिणाम है । उस दीक्षा के अनुसार शारीरिक आचार आध्यात्मिकता की उपलब्धि में अपना सहयोग करता है । दीक्षा, जितनी ही, व्रत का अनुसरण करेगी उतनी ही वह पृथिवी के सौभाग्य का कारण बनेगी । व्रत टूट नहीं सकता जब व्रती उसे दीक्षा की कठोर कड़ी से बांध रखेगा । सत्य एवं ऋत से पूर्ण व्रत दक्षता के साथ पृथिवी की ध्रुवता को स्थिर कर सकेगा ।

तप सारी क्रियाओं का मूलाधार है । कठोर अनुशासन में रहकर मानव तप की साधना करता है । जितना तप बढ़ता है उतना ही साधना का स्तर भी बढ़ता है । दूसरों की सुखवृद्धि में अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख को सहन करके तप की मर्यादा को ऊपर उठाए रखना मानव की महत्ता है । यह महत्ता पृथिवी को धारण करती है ।

ब्रह्म महान् है जो आत्मतत्त्व की महत् बुद्धि को प्रणव की ओर ले जाता है । आत्मज्ञान की स्थिति में सब उसी में समाहित से लगते हैं । ऐसी स्थिति में पृथिवी पर किसी प्रकार की विकृति नहीं आ पाती ।

यज्ञ वेद की सबसे अमूल्य निधि है । जन जन का सम्मान, जन जन का सहयोग एवं जन जन के लिए त्याग करना यज्ञ है । इस यज्ञ से प्रेम की

व्यापकता में विकास होता है और प्रत्येक मानव **उरु अन्तरिक्षम्** (विशाल अान्तरिक्ष) बनकर सबको अपने में समेट लेता है। इस प्रकार, स्वार्थ, जिसके कारण सारे अनर्थ हो रहे हैं, व्यापक बनकर परमार्थ हो जाता है। यही परमार्थ पृथिवी की रक्षा करता है।

२) पृथिवी के ये छह आधार जब अपनी उच्चावस्था को प्राप्त होते हैं तब पृथिवी हमारी रक्षा करती है। अतीत काल की स्मृतियों से ज्ञान लेकर, वर्तमान को भोगकर मानव भविष्य की कल्पना करता है और उसे अपनी कल्पना से सजाता और संवारता है। पृथिवीस्थ मानवों का सत्य, जो अतीत से मिलता है, शाश्वत मूल्यों की स्थापना करता है; ऋत, जो सत्य का परिणाम होता है, सबको सत्य की ओर प्रेरित करता है; दीक्षा, जो सत्य एवं ऋत की व्रती होती है, जीवन में दक्षता प्राप्त करती है; तप, जो श्रम से पाया जाता है, दीक्षा को बलवती बनाता है; ब्रह्म, जो आत्मतत्त्व का ज्ञान कराता है, जन जन में समता का आनन्द छींटता है; और यज्ञ, जो हमारी क्रियाओं का पावन रूप है, प्रेम की व्यापकता का प्रसार करता है। इस प्रकार, पृथिवी भविष्य में होनेवाली घटनाओं एवं वातावरण की शुद्धताओं से निरन्तर इन आधारों से रक्षा करती है।

३) पृथिवी पृथु है, विस्तारवाली है, व्यापक है। पृथिवी की व्यापकता में **उरु लोकम्** (व्यापक दृष्टि) निहित है। सम्पूर्ण धरित्री को अपना मानना और अपने जैसा व्यवहार करना मानवमात्र का धर्म है। ऐसा न कर मनुष्य संकीर्ण होता चला जाता है और देश, प्रान्त एवं गांव की सीमा में बंध जाता है। उसकी दृष्टि सीमित हो जाती है। जीवन भी उसी मान्यता के अनुसार कुछ लोगों तक सीमित हो जाता है। इस प्रकार, व्यापक दृष्टि का अभाव हो जाता है। ऐसी दृष्टि सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ से दूर होती चली जाती है। इसका फल यह होता है कि पृथिवी पर अनर्थ होते चले जाते हैं। मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए दूसरे मनुष्य का अभद्र करता चला जाता है। एक देश दूसरे देश से लड़ता है और अराजकता की स्थिति हो जाती है। इसी लिए इस कुवृत्ति को दूर करने के लिए वेद 'विश्वमानुष' का आह्वान कर रहा है। पृथिवी पर व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है। यह व्यापक दृष्टि डगमगाती पृथिवी को स्थिर करने की सामर्थ्य रखती है।

सत्य बृहत्, ऋत उग्र, दक्ष जो, ब्रह्म, यज्ञ, तप करते हैं।
इन छह आधारों से वे धरती को धारण करते हैं॥
भूत-, भविष्य-रक्षिका पृथिवी हममें यज्ञिय भाव भरे।
उच्च शिखर पर पहुंचा कर वह हममें व्यापक दृष्टि करे॥

योग का क्षेत्र और उसकी उपलब्धियां

सोमचैतन्य श्रीवास्तव, एम ए, एम ओ एल शास्त्री
डी ए वी कॉलेज, कोरापुट

प्रत्येक योगसाधक को योग का स्वरूप, साधक की पात्रता के लिए आवश्यक गुण, योग का लक्ष्य, योग के आरंभ से लेकर क्रमशः लक्ष्य की ओर जाती हुई विभिन्न साधनभूमियाँ, उन साधनभूमियों के अन्तराय तथा उनमें प्राप्त होनेवाली सफलताएं [विभिन्न सिद्धियां], स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण जगत् का परिचय तथा वहां कार्य करनेवाले उपकरण, सूक्ष्म जगत् के विभिन्न लोकों के दृश्य और अनुभव, एक ही आत्मा के, उपाधि भेद से, अनेक नाम तथा तत् तत् उपाधि-रूप के कार्य, चेतना-लोकों की विभिन्न भूमियों में साधना की प्रगति तथा आत्मा वा ब्रह्म की अभिव्यक्ति की सूचना देनेवाले ज्योति, आदि प्रतीकों के दर्शन के संकेतार्थ, पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकरूपता, पिण्ड का आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप, पंच कोष और पंचविध पुरुष, इत्यादि का भली भांति ज्ञान आवश्यक है। योगविद्या शरीर के माध्यम से प्रकृति के समस्त तत्त्वों और कार्यों को जानकर उन पर पूर्ण वशीत्व प्राप्त करके, त्रिगुणात्मक प्रकृति से मुक्त होकर, कैवल्यलाभ करने की विद्या है। अतः शरीर और प्रकृति के मध्य जितने भी प्रकृति के विकार-रूप हैं तथा जीवात्मा और परमात्मा के बीच में विभिन्न स्तरों पर उपाधियों से आवृत चेतना के जितने नाम, रूप तथा सत्ताएं हैं उन सबका सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। इसके साथ ही, बन्धन में डालनेवाली अविद्या के विभिन्न रूपों का, अविद्या की शक्तियों के कार्य करने के सिद्धान्तों और नियमों का तथा, विभिन्न स्तरों पर अविद्या के विभिन्न रूपों और शक्तियों का समूल नाश करके बन्धनमुक्त करनेवाले, विद्या के रूपों और साधन-शक्तियों का ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार के व्यापक ज्ञान और शक्ति से युक्त होने के कारण ही इस विद्या को दुर्लभ और दुर्गम माना गया है। इस विद्या के विराट् रूप और असीम सामर्थ्य का विचार किए बिना ही तथा इसकी साधना के लिए आवश्यक योग्यता का अर्जन किए बिना ही, अल्प यत्न से थोड़े समय में ही तथाकथित किन्हीं एकाधिक योगसाधनाओं द्वारा आत्मसिद्धि पा लेना कभी भी संभव नहीं है।

किसी भी योगपद्धति की साधना के दो रूप होते हैं, पूर्व और उत्तर। पूर्व भाग 'बहिरंग योग' कहलाता है, तो उत्तर भाग 'अन्तरंग योग'। बहिरंग योग में योगसाधना के बाह्य अंग में शरीर, इन्द्रिय और प्राण के शोधन और सामर्थ्यवृद्धि की प्रधानता रहती है। अतः इसे अवर [निम्न] कोटि का योग कहा जाता है। बहिरंग योग में अन्तरंग योग के लिए योग्यता प्राप्त करने की साधना की जाती है। पातंजल योग में, यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग योग की श्रेणी में आते हैं। चित्त की शुद्धि, चित्त की एकाग्रता, पूर्वाजित कर्म के संस्कारों और वासनाओं को निःशेष करना, अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करना, विवेकख्याति की प्राप्ति, आदि अन्तरंग योग के विषय हैं। अन्तरंग योग का कार्यक्षेत्र है—चित्त। धारणा, ध्यान और समाधि के समुच्चय—'संयम' का नाम अन्तरंग योग है। योग के विभिन्न क्षेत्रों की विभिन्न प्रकार की साधनाओं में परिपूर्णता तथा सिद्धि की प्राप्ति इस 'संयम' के अभ्यास से ही होती है।

योग का क्षेत्र है चेतन और जड़। चेतन-क्षेत्र के विषय हैं जीव और ईश्वर। जड़-क्षेत्र के विषय हैं महत् [तत्त्व] से लेकर पंच महाभूत एवं उनके अणु। योगसूत्र में स्पष्ट कहा है, **परमाणुपरम-महत्त्वान्तोस्य वशीकारः** [१/४०]; ध्यानादि उपायों द्वारा योगी का सूक्ष्म पदार्थों में परमाणु-पर्यन्त, तथा महान् पदार्थों में महत् [तत्त्व] पर्यन्त

वशीकार हो जाता है। प्रणव-जप एवं समाधि द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है [ईश्वर-प्रणिधान के प्रकरण (?/२३-२८) में], तथा समाधि-अभ्यास के द्वारा क्लेश और कर्मों के निवृत्त होने पर तथा पुरुष को अपने स्वरूप का, चित्त सत्त्व से भिन्न, ज्ञान होने पर उसे अपने शुद्ध चिति-रूप में स्थिति प्राप्त होती है (३/५५,४/३०-३४)। दृश्य रूप में ज्ञेय तथा हेय प्रयोजन के लिए मूल प्रकृति [अलिंग] का भी समावेश (१/४५, २/१८)। योग के विषय में होता है।

शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का प्रधान आधार है। प्रत्येक शरीर विश्व का संक्षिप्त रूप है। प्रत्येक शरीर में, ब्रह्म और जीव का एवं सब देवों तथा प्रकृति की सब शक्तियों का वास है। यह शरीर विभिन्न बिन्दुओं पर विभिन्न देव-चेतना के लोकों, देव-शक्तियों और प्रकृति के तत्त्वों से जुड़ा हुआ है। इसलिए इसे ब्रह्मनगरी, देवपुरी, शिवालय एवं विष्णुमन्दिर माना गया है। वैदिक साधना की परम्परा में मानव-शरीर को कहीं भी घृणा की दृष्टि से देखकर त्याज्य नहीं माना गया है। इसके विपरीत, इसमें निहित सम्पूर्ण शक्तियों, सामर्थ्यों और योग्यताओं को अभिव्यक्त करके इस शरीर को जरा-मृत्यु से रहित कर, इसके भौतिक कणों को चैतन्य-कणों में रूपान्तरित करके इसे ब्रह्मशरीर वा चिन्मयशरीर बनाने का लक्ष्य रखा गया है। पंच भूतादि आत्मा के ही परिवर्तित रूप हैं। यह सम्पूर्ण विश्व शक्तियों की ही क्रीडा है। वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार भी सब शक्तियां रूप बदलकर एक दूसरे के रूप में परिवर्तित हो सकती हैं। जैसे नमक घुलकर, जल में मिलकर जल-रूप हो जाता है, इसी प्रकार जड़ दिखाई देनेवाला यह जड़ शरीर भी जड़ता का त्याग करके, सूक्ष्म शक्ति-कणों के रूप में परिवर्तित होता हुआ, अन्ततः चैतन्यशक्ति-कण के रूप में परिवर्तित तथा संहत होकर चिन्मय शरीर वा ब्रह्मशरीर का रूप धारण कर सकता है। योगशिखोपनिषद् (१/१६१-१६५) तथा योगकुण्डली-उपनिषद् (१/७७-७८) ने देह द्वारा, जड़ता को त्यागकर, चिन्मयत्व की, ब्रह्मत्व की प्राप्ति को, पिंड की अजरता और अमरता को जीवन्मुक्त का प्रधान बाह्य लक्षण माना है। इस तथ्य के समर्थक कुछ उपनिषद्-वाक्य भी हैं।

यह शरीर भौतिक स्तर पर चेतना का जड़ीभूत सघन रूप है। शरीर में पांच कोष, अन्नमय-पुरुष-विध, आदि पांच पुरुष-प्रतिनिधि, इन्द्रियां, प्राण, मन, हृदय, बुद्धि एवं जीवात्मा तथा परमात्मा हैं। ये सब एक दूसरे से पृथक् न होकर संयुक्त हैं। किसी भी एक क्षेत्र की साधना से अन्य सब क्षेत्र प्रभावित होते हैं। इनके अतिरिक्त, शरीर में, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द के रूप में पृथ्वी, आदि की तन्मात्राओं का, मांस, रस, शोणित, क्षुधा, दीप्ति, गति, श्वास, छिद्रावकाश, आदि के रूप में पंच भूतों का, मन के रूप में अहंकार का तथा बुद्धि के रूप में महत् (तत्त्व) का वास है। वाणी में अग्नि, बल में इन्द्र, चक्षुः-प्रकाश में सूर्य-चन्द्र, बुद्धि में ब्रह्मा, गति में वायु, प्राणापान तथा रूपकान्ति में अश्विनौ, आदि देवों का वास है। शरीर का मूलाधार चक्र पृथिवी का, स्वाधिष्ठान चक्र जल का, नाभिचक्र अग्नि का, हृदयचक्र वायु का, कण्ठ चक्र आकाश का केन्द्र-बिन्दु है। भूमध्यचक्र को बुद्धि तथा विज्ञानमयात्मा का, एवं मूर्धाचक्र को आनन्द, आनन्दमयात्मा तथा परमात्मा का वासस्थान माना गया है। ये विभिन्न चक्र एवं अन्य अंग विश्व के लोकों के साथ भी जुड़े हुए हैं। हृदय को सब देवों का वासस्थान तथा सब लोकों का केन्द्र माना गया है। इस प्रकार, अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से यह शरीर केवल भौतिक एवं जड़ नहीं है तथा यह सब आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तत्त्वों और शक्तियों का घनीकृत स्थूल रूप है। वेद की सृष्टिरचना-विषयक ऋचाओं, उपासना-संबंधी मंत्रों तथा ऐतरेय, कठ, माण्डूक्य, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर, और बृहदारण्यक नामक उपनिषदों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है। यही कारण है कि विभिन्न योग-पद्धतियों में काया-योग को तथा अहिंसा, ब्रह्मचर्य, संयम, मिताहार, शौच एवं तपःपूर्वक कायासंबंधी योगसाधना को बहुत महत्त्व दिया गया है।

(क्रमशः)

प्रवचन

धर्मशास्त्र : एक परिचय [४]

रामाश्रय शर्मा, एम ए, पीएच डी
१३ यू बी, जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००६

१२. तो पुरुषार्थ-कल्पना में इसलिए एक तीसरी श्रेणी स्वीकार की गई। धर्म की जो ये तीन श्रेणियां हैं धर्म, अर्थ और काम, इनको शास्त्र की बोली में **त्रिवर्ग** कहते हैं। संसार का जो जीवन है, जिसको हम अध्यात्म से नीचे **व्यावहारिक जीवन** कहते हैं, वह व्यावहारिक जीवन इस त्रिवर्ग में सिमटा हुआ है। त्रिवर्ग से बाहर कुछ नहीं। जैसा मैंने दो-तीन बार आपके सामने कहा, एक प्रकार से असम्भव कार्य को हमारे ऋषियों ने, मनीषियों ने सम्भव कर दिखाया कि जीवन में मनुष्य के मन के अन्दर निश्चय ही असंख्य कामनाएं होती हैं, नानारूप-वाली कामनाएं होती हैं लेकिन चाहे वे कितनी भी गिनती में अनगिनत दिखाई पड़ती हों, कितनी भी स्वरूप में परस्पर एक दूसरे से भिन्न और नई दिखाई पड़ती हों तथापि उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। और वर्गीकरण सफलतापूर्वक किया गया। तीन श्रेणियां, तीन वर्ग उनके बना दिए गए, धर्म, अर्थ और काम।

१३. आप अपने जीवन को देख लीजिए, अपने से बाहर अपने स्वदेशियों के किसी जीवन को देख लीजिए, आज को देख लीजिए, अतीत को देख लीजिए आने वाले कल की कल्पना करके देख लीजिए जिसने अपने समस्त जीवन में जब कभी जो कोई भी काम किया है वह इन तीनों श्रेणियों से बाहर नहीं है। मनुष्य,—जैसा मैंने आपसे कहा,—मनुष्य के साथ प्रकृति ने बड़ा पक्षपात किया है। बुद्धि के साथ साथ उसको ऐसी शक्ति भी प्रदान की,—इसके भी ऊपर—आत्मा की शक्ति; आत्मा को वह पहचान सकता है, उसका वह साक्षात्कार कर सकता है। इसलिए आदमी की कामना की कोई सीमा नहीं, सीमातीत कामनाएं हैं। जो पशु पक्षी हैं वे छोटी छोटी कामनाएं करते हैं। सामान्य मनुष्य भी छोटी छोटी कामनाएं करता है। जैसे हमको यह दिखाई पड़ता है, मैं यदि सामान्य से व्यवसाय में लगा हूं, थोड़ी सी मेरी आमदनी है, मैं सोचता हूं, मैं लखपति हो जाऊं, करोड़पति हो जाऊं; बहुत बड़ी कामनाएं हैं। यदि आज मैं किसी के सामने कहूं कि मैं करोड़पति बनना चाहता हूं तो वह मुझ पर हंसेगा। इस दृष्टि से हंसेगा कि इतना छोटा व्यक्ति, इतनी बड़ी कामना। लेकिन करोड़पति बनने की कामना बड़ी तुच्छ—छोटी कामना है, बड़ी तुच्छ कामना है। मनुष्य ने जो कामनाएं की हैं उसकी तुलना में यह तो एक बड़ी छोटी कामना है। लेकिन मनुष्य की यह कामना रही। और हमारे यहां हमारे देश, हमारे भारतवर्ष में हमारा यह बड़ा भारी गौरव है कि हमारी कामनाएं बहुत बड़ी रहीं। हमने इन छोटी कामनाओं पर अपने को कभी रोकना पसन्द नहीं किया। हमारी कामना तो यह है ब्रह्म बनने की, यानी जिसके आगे कामनाएं समाप्त हो जाती हैं वह हमारी कामना है। बाक़ी सारी कामनाएं तुच्छ कामनाएं हैं।

आपने अवश्य सुनी होगी किसी न किसी प्रसंग में, **कठोपनिषद्** में एक नचिकेता की कहानी आती है। वह नचिकेता अपने पिता के आदेश से यमराज के यहां पहुंचा। तीन वरदान उसको दिए गए। सहर्ष वे वरदान यमराज ने उसको दिए। पहला वरदान उसने मांगा उन्होंने तुरन्त उसे दे दिया। दूसरा वरदान मांगा उन्होंने तुरन्त उसे दे दिया। पहला वरदान था पारिवारिक सुख का। हर एक आदमी, सामान्य आदमी यह चाहता है। हम जहां हैं हमारे चारों ओर जो हमारा जिससे हमारा सीधा सम्पर्क है वह यदि ठीक है तो फिर हम उसके आगे सोच सकते हैं। तो पहला हमारा सीधा सम्पर्क हमारे परिवार के साथ है। इसलिए पहली कामना जो वर के रूप में नचिकेता द्वारा प्रकट की गई वह यही थी, मेरा पिता जो है वह सुखी रहे, सानन्द रहे।

जब हमारे आस-पास की परिधि सुखमय, अनुकूल हो जाती है तब हम बड़ी कामना करते हैं जो बड़े से बड़ा सुख हो सकता है उसको हम पाने की चेष्टा करते

हैं। उस बड़े से बड़े सुख की हमारे यहां प्राचीन काल में कल्पना थी स्वर्ग। स्वर्ग की यदि प्राप्ति हो जाए। यानी संसार में जो कुछ हमको भोग्य पदार्थ दिखाई देते हैं उनका हमको बड़ा स्वाद है, हमको बड़े अच्छे लगते हैं। उनकी जो ऊंची से ऊंची कल्पना हो सकती है वह कल्पना है स्वर्ग। इसलिए स्वर्ग की प्राप्ति हो जाए। वहां कामधेनु है, वहां पर कल्पवृक्ष है। मतलब, हमने इच्छा की और वह इच्छा तुरन्त सम्पूर्ण हुई, सम्पन्न हुई; इसलिए स्वर्ग। संसार में तो हम इच्छा करते हैं तो प्रयत्न करना पड़ता है। कभी सफलता मिलती है तो कभी नहीं भी मिलती है। इसलिए हमारे यहां कुछ लोगों ने कल्पना की, स्वर्ग एक आदर्श स्थिति है। लेकिन यह आदर्श स्थिति भोग की दृष्टि से है।

नचिकेता ने, इसलिए, जो दूसरी कामना की वह थी, स्वर्ग की जो कुञ्जी है, एक यज्ञ-विशेष, एक अग्नि-विशेष,—वह रहस्य यमराज को विदित है,— उन्होंने यमराज से प्रार्थना की कि, ये कुञ्जी आप मेरे हाथ में थमा दीजिए, मुझे दे दीजिए। यम ने एक क्षण भी इसमें संकोच नहीं किया और वह कुंजी उसके हाथ में थमा दी। वह अग्नि का रहस्य उसको बतला दिया।

लेकिन तीसरा वर जब उसने मांगा तब यमराज तैयार नहीं हुए उसे देने के लिए। उन्होंने उसको बहुत तरह के विकल्प दिए। उन्होंने कहा 'इमा रामाः सरथाः सतूर्याः' ऐसी जो सुख की वस्तुएं हैं वह तो संसार में किसी को भी प्राप्त नहीं हुईं। वह दिव्य सुख मैं तुमको दे सकता हूं। लेकिन नचिकेता ने कहा, 'ये कामनाएं जो अब तक मांगी गई थीं उनकी तो एक सीमा थी।' दूसरा व्यक्ति है वह भी पा सकता है, इसके आगे कुछ भी मांग सकता है। लेकिन अब तो जो इसकी कामना है, वह ऐसी कामना है जिसके आगे और कुछ नहीं है। इसलिए उसने जो आत्मा का रहस्य है उस आत्मा के रहस्य के विषय में जिज्ञासा प्रकट की और उसी को पाने का हठ किया।

तो मैं कहना यह चाहता था कि मनुष्य ब्रह्म-रूप है। इसी लिए उसकी कामना की भी कोई सीमा नहीं। और सबसे बड़ी कामना जो हो सकती है, अर्थात्, मैं ब्रह्म हो जाऊं, मैं आत्मस्वरूप को पहचान लूं, आत्मा और ब्रह्म की जो एकता है उसको मैं पहचान लूं।

इसको प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने जिज्ञासाएं की हैं और इसको प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। इसलिए, बहुत सारे मनुष्य हैं,—आपने देखा होगा, सुना होगा,—संसार के समस्त पदार्थ पड़े हुए हैं, उनके प्रति ये उदासीन हैं। लेकिन फिर भी ये प्रयत्नशील हैं। इसलिए जो मैंने कहा आपसे कि मनुष्य का तमाम उद्यम, तमाम कामनाएं त्रिवर्ग में अन्तर्भूत हो जाती हैं, यह लोकव्यवहार की दृष्टि से सत्य है। इसके आगे भी है। कुछ लोग ऐसे भी दिखलाई पड़ते हैं कि जिनको संसार की कोई भी चीज़ रुचती नज़र नहीं आती। और वे किसी बड़े, ऊपर के, सत्य को, सुख को पाने की कामना रखते हैं। इसलिए इन तीनों पुरुषार्थों के ऊपर एक और भी पुरुषार्थ स्वीकार किया गया। उसका नाम है मोक्ष।

१४. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। त्रिवर्ग का विस्तार किया गया। त्रिवर्ग तो धर्म, अर्थ और काम को कहते हैं। चतुर्वर्ग—त्रिवर्ग को बढ़ाकर तीन के स्थान पर चार (चतुर्वर्ग) की कल्पना की गई, और उस चतुर्वर्ग में मोक्ष को स्वीकार किया गया। इस मोक्ष के विषय में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है, धर्म, अर्थ, काम, ये तो पुरुषार्थ हैं, लेकिन मोक्ष **परम पुरुषार्थ** कहलाता है। यह परम पुरुषार्थ है। अब शायद मैं ज्यादा प्रामाणिक रूप से आप लोगों से कह सकता हूं कि मनुष्य, यावन्मात्र जितने मनुष्य हुए हैं, या होंगे उनके समस्त प्रयत्न अब इन चार श्रेणियों में समाविष्ट हैं, और इससे बाहर नहीं हो सकता।

या तो हम अर्थ के लिए प्रयत्नशील हैं या फिर काम के लिए प्रयत्नशील हैं या फिर धर्म के लिए प्रयत्नशील हैं और या फिर मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हैं।

मेरे समय की सीमा निकट है।....दस मिनट अभी मुझे और दिए गए हैं।

दो बातें मैं आपसे अभी और कहूंगा। इन पुरुषार्थों के बारे में दो बातें बड़ी विशिष्ट हैं। इनको, जितना ही, पुरुषार्थों को, साधना ज़रूरी है, उससे भी ज्यादा मेरी दृष्टि में उनको समझना ज़रूरी है।

क्रमशः

साहित्यालोचन

सोमचैतन्य श्रीवास्तव
हिन्दी-विभागाध्यक्ष, डी ए वी कॉलेज, कोरापुट

चरक एवं सुश्रुत के दार्शनिक विषय का अध्ययन : ज्योतिर्मित्र; श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि.; पटना; पृ. iv+496+43; प्रथम संस्करण; 1943; 40.00

जिस शास्त्र के अध्ययन से आयु का ज्ञान वा लाभ हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयु जीवन का पर्याय है। शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि आयु की सुरक्षा पर ही निर्भर है। आयु का भोक्ता जीवात्मा है। जीवात्मा का आश्रय शरीर है। पंच महाभूत, दश इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि के संयोग को शरीर कहते हैं। अष्टधा प्रकृति एवं षोडश विकारों के पिण्डीकृत रूप, शरीर को धारण करनेवाला चतुर्विंशतिक पुरुष चिकित्सा का विषय है। इस चतुर्विंशतिक पुरुष का दूसरा नाम 'राशिपुरुष' वा षड्धातुक पुरुष है। मोह, इच्छा एवं द्वेष से प्रेरित होकर कर्म करने के कारण नाना योनियों में जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता हुआ, यह पुरुष अनेक प्रकार के सुख-दुःख अनुभवों को, अल्प व दीर्घ आयु को तथा ये विविध प्रकार के शरीर, मानस रोगों वा आरोग्य को भोगता रहता है। सब रोगों के मूल कारण अहंकार, राग, द्वेष, लोभ, घृणा, आदि मानस विकार ही हैं। मन एवं इन्द्रियों को निर्मल रखने से तथा पंच महाभूतों, रस, रक्तादि धातुओं एवं वात, पित्तादि दोषों की साम्यावस्था बनाए रखने से पुरुष स्वस्थ रहता है।

आरोग्यसंरक्षण एवं आर्त्तिनाशन, ये दो आयुर्वेद के मुख्य कार्य हैं। इन उभयविध कार्यों की सिद्धि के लिए विभिन्न गुण-कर्मवाले द्रव्यों की आवश्यकता होती है। अतः आयु के ज्ञान और लाभ की प्राप्ति के लिए गुण-कर्मसम्पन्न द्रव्यों के सामान्य-विशेष लक्षण तथा उनके सम्बन्ध का ज्ञान होने के साथ ही, सृष्टि, आत्मा, पुरुष, बुद्धि, मन, संस्कार, कर्मविपाक, शरीर, आदि का तत्त्वज्ञान होना भी आवश्यक है। इसी कारण आयुर्वेद के मौलिक चिकित्सा-सिद्धांत दार्शनिक तत्त्वज्ञान की पृष्ठभूमि पर दृढ़तापूर्वक स्थित हैं।

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। आयुर्वेद के उपदेष्टा इन्द्र, प्रजापति, अश्विनौ, आदि देवता, एवं भरद्वाज, पुनर्वसु आत्रेय, आदि वैदिक ऋषि हैं। वैदिक परम्परा से आती हुई दार्शनिक विचारधारा ही न्याय, वैशेषिक, आदि षड् दर्शनों के रूप में पल्लवित एवं उपबृंहित हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर आयुर्वेद-संस्थान में आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धांत के प्राध्यापक एवं रीडर, डॉ ज्योर्मित्र आचार्य ने दीर्घकालिक स्वाध्याय, मनन और अनुसंधान के पश्चात्, चिकित्सा-क्षेत्र के, दो मूर्धन्य आप्त प्रामाणिक ग्रन्थों, चरक एवं सुश्रुत में इतस्ततः बिखरे हुए दार्शनिक विचारों को संकलित करके उन्हें, उनकी प्राचीन पृष्ठभूमि सहित विभिन्न प्रमेयों में विभक्त कर न्याय, आदि षड् वैदिक दर्शनों, नास्तिक दर्शन तथा कुछ आधुनिक दार्शनिक-वैज्ञानिक मतवादों के साथ तुलनात्मक और समन्वयात्मक अध्ययन करके, समीक्षा की सुबोध शैली में प्रस्तुत किया है। ग्रंथ के प्रथम एवं नवम अध्याय क्रमशः चरक तथा सुश्रुत की प्राचीन दार्शनिक परम्परा तथा मौलिक सिद्धांतों का वर्णन करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। पिछले अध्यायों में वर्णित विषयों की सूचना-मात्र होने से दशम अध्याय निरुपयोगी बन गया है। इसके बदले यदि इसमें पिछले अध्यायों में विवेचित विषय-ज्ञान का सार-संकलन समग्र रूप से कर दिया जाता तथा इस विषय में अधिक

अध्ययन करने के लिए कुछ दिशा-निर्देश प्रस्तुत किए जाते तो बेहतर होता।

इस आलोच्य ग्रन्थ में दो कमियां खटकती हैं। एक तो यह कि विद्वान् लेखक ने चरक और सुश्रुत के दार्शनिक विचारों के मूल स्रोत को ढूंढने के लिए भारद्वाज, आत्रेय, आदि ऋषियों के विचारों का अवगाहन वैदिक मंत्रों, 'ब्राह्मण'-ग्रंथों, महाभारत तथा पुराण, आदि में नहीं किया है। दूसरी कमी यह है कि उसने 'याज्ञिक-प्रस्थान' का संकेत किया है पर उसकी दार्शनिक विचारधारा प्रस्तुत नहीं की। चरक ने अनेक स्थानों पर चिकित्सा के अन्य उपक्रमों के साथ यज्ञ-होम का भी विधान किया है। यदि ग्रंथ के आरम्भिक अध्याय में आयुर्वेद और दर्शन के परस्पर संबंध की विवेचना कर दी जाती तो ग्रन्थ-रचना का रूप और भी सुसंगत एवं संश्लिष्ट बन जाता।

निश्चय ही यह उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ, आयुर्वेद के दार्शनिक पक्ष का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करता हुआ, न केवल दार्शनिक तत्त्वज्ञान के चिकित्सकीय पांचभौतिक पक्ष को सुस्पष्ट करता है अपि तु इसमें यथास्थान पदार्थविज्ञान, द्रव्य-गुण, क्रियाशारीर एवं चिकित्सा के भी कुछ मौलिक सिद्धांतों की विवेचना हुई है। आयुर्वेद एवं दर्शन, दोनों क्षेत्रों में यह ग्रन्थ विशिष्ट गौरव का अधिकारी है। तत्वज्ञान के जिज्ञासु पाठकों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी, पठनीय एवं संग्रहणीय है।

'वेद-सविता' (मासिक) के नियम

१ वार्षिक शुल्क : रु १२; विदेशों में : रु ३०; पर हवाई डाक से रु ५०।
आजीवन शुल्क : रु १५०; विदेशों में : रु ३००; पर हवाई डाक से रु ५००। संस्थाओं को आजीवन ग्राहक नहीं बनाया जाता है।

२ ग्राहकी आरम्भ करने के मास : फ़रवरी, मई, अगस्त, नवम्बर।

३ पत्रिका का वर्ष अगस्त से जुलाई तक है। जिस भी मास से ग्राहक बनें वर्षान्त जुलाई में ही माना जाएगा। अतः ऊपर नियम सं २ के मासों से नवीन ग्राहक बननेवाले क्रमशः रु ६, ३, १२, ९ ही, प्रथम बार में, भेजें।

४ जो संस्थाएँ ग्राहक बनने, अथ वा ग्राहकी-नवीकरण, के लिए बिल मंगाती हैं उन्हें बिल के भुगतान तक अङ्कों का प्रेषण आरम्भ नहीं किया जाता है। भुगतान प्राप्त होने पर जिन पुराने अङ्कों की प्रतियाँ समाप्त हो चुकी होंगी उन्हें भेजने में मजबूरी रहेगी।

५ अङ्क का प्रेषण पूर्व-मास की २८ तारीख़ को होता है।

६ यदि अङ्क मास की ७ तारीख़ तक प्राप्त न हो तो अप्राप्त अङ्क की प्रति मंगाने के लिए मास की १५ तारीख़ तक सूचना वेद-संस्थान को मिल चुकनी चाहिए।

७ पते में परिवर्तन की सूचना २० तारीख़ तक मिल जाने पर ही नए पते पर अङ्क भेजना सम्भव होगा। अस्थायी तौर पर पता नहीं बदला जाता है।

८ जिन ग्राहकों की ग्राहकी पूर्व-मास के अङ्क के साथ समाप्त हो चुकी होती है, ग्राहकी-नवीकरणार्थ उनका शुल्क प्राप्त न होने पर अथ वा अन्य कोई निर्देश न मिलने पर अगला अङ्क वी पी द्वारा भेजा जाता है। यदि किसी ग्राहक को वी पी-प्रेषण पसन्द न हो तो उन्हें यह तथ्य तुरन्त सूचित कर देना चाहिए।

९ व्यवस्था-विषयक पत्र-व्यवहार के लिए पता : सचिव, साहित्य-सदन, वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर ३०५ ००१। पत्र-व्यवाहर में अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य कर दें।

जय-यात्रा की आवश्यकता

किसी भी दिन का समाचारपत्र उठाकर देख लें, उसमें दहेज़ के लिए एक दो हत्याओं का वर्णन मिल जाएगा। अपहरण और बलात्कार की घटनाओं को भी देखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में पशुता बढ़ रही है। यह नारी-समुदाय के लिए भारी चुनौती है। उसमें यह क्षमता है कि वह दरिंदों से निपट सके। हाँ, पहले योजना अवश्य बना लेनी चाहिए।

नारी अपना परिवार छोड़कर नए परिवार में चली जाती है। उसे यह पता भी नहीं होता कि उसे कैसे आदमी मिलेंगे। नए वातावरण के अनुसार वह अपने आपको ढाल लेती है। पराए को अपना बना लेने का रहस्य उसे ज्ञात होता है। कई कन्याएँ तो अपने पिता या भाइयों के दुश्मनों के घर में भी गई हैं निस्संकोच। उनको भी उन्होंने अपना बना लिया। ऐसी घटनाओं को पढ़-सुनकर रोमांच हो आता है।

महात्मा गांधी के जीवन की एक घटना है। वे चम्पारन में सेवाकार्य कर रहे थे। उन्हें पता चला कि वहाँ के अंगरेज़ अधिकारी ने उनको गोली से उड़ाने की धमकी दी है। उन्होंने आव देखा न ताव; दूसरे ही दिन जा पहुंचे उसके घर। अपना परिचय देकर बोले, 'अकेला इसलिए आया हूं कि आप मुझे मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लें।' गांधी का आत्मबल देखकर अंगरेज़ हक्का बक्का रह गया। क्षमा मांगी और उनका भक्त बन गया। नारी का साहस गांधी जी से किसी भी दशा में कम नहीं कहा जा सकता। उनको तो आए दिन ऐसे लोगों से जूझना पड़ता है।

कन्या वस्तुतः एक राजदूत की तरह होती है। अपने पितृ-परिवार के संस्कार लेकर वह पति के परिवार पर विजय पाने के लिए अभियान करती है। यह अभियान परिणाम में बड़ा सुखकारी होता है। दोनों परिवारों में आनन्द की भागीरथी बहने लगती है। इस विजय-यात्रा के सामने बड़े बड़े सम्राटों की विजय-यात्राएँ फीकी पड़ जाती हैं। इस क्षमता के लिए नारी को किसी का मुंह जोहने की आवश्यकता नहीं है।

आज की आवश्यकता को देखते हुए नारी को अभूतपूर्व विजय-यात्रा के लिए तैयार हो जाना चाहिए। वह शक्तिरूपा है। अत्याचारियों, अनाचारियों के सब गढ़ों को तोड़ देने का सामर्थ्य उसमें है। एक बार संकल्प करके आगे बढ़े तो विजय तो बाएँ हाथ का खेल है। —पंचोली

संस्कृत-स्वयंशिक्षण [५४]

[ये पाठ रटने के लिए नहीं, केवल समझने के लिए हैं। हाँ, किसी भी उत्साही व्यक्ति के लिए इन्हें एक मास में याद कर लेना कठिन नहीं है। चाहें तो, अभ्यासकार्य को, शोधनार्थ, डाकटिकटों के साथ भेजा जा सकता है। **सम्पादक**]

सप्तमी विभक्ति : द्विवचन

१) सप्तमी विभक्ति में द्विवचन के रूप दो प्रकार के बने हुए देखे जाते हैं :
(i) शब्द के अन्त में कुछ जोड़ने से, (ii) शब्द के अन्त के अंश को बदलने से।

२) शब्द के अन्त में कुछ जोड़ने से बननेवाले रूपों की निम्न कोटियाँ हैं :

ओः जोड़ने से। जैसे, आत्मन्+ओः=आत्मनोः। इसी प्रकार, करिणोः, चन्द्रमसोः, जगतोः, ददतोः, धनुषोः, पयसोः, ब्रह्मणोः, भगवतोः, भवतोः, भूभृतोः, मनसोः, योगिनोः, वर्मणोः, वाचोः, शर्मणोः, सरितोः, हविषोः।

नोः ,, । ,, , मधुनोः, वारिणोः।

योः ,, । ,, , उभयोः, गृहयोः, पूर्वयोः (पुं., स्त्री., दोनों में), बालयोः, सर्वयोः (पुं., स्त्री., दोनों में)।

३) शब्द के अन्तिम अंश को बदलने से बननेवाले रूपों की निम्न कोटियां हैं :

अन् के स्थान पर **ञोः**। जैसे, राज्ञोः।
,, ,, **नोः**। ,, , नाम्नोः।
आ ,, **अयोः**। ,, , वालिकयोः।
इ ,, अयोः। ,, , द्वयोः।
,, ,, नोः। ,, , दध्नोः।
,, ,, योः। ,, , कव्योः, नद्योः, पत्योः, मत्योः, सख्योः।
इम् ,, ,, । ,, , कयोः।
ई ,, इयोः। ,, , श्रियोः।
,, ,, योः। ,, , लक्ष्म्योः।
उ ,, वोः। ,, , गुर्वोः, धेन्वोः, भान्वोः।
ऊ ,, ,, । ,, , वध्वोः।
ऋ ,, रोः। ,, , कर्त्रोः, पित्रोः, मात्रोः।
त ,, योः। ,, , एतयोः, तयोः, ययोः।

४) कुछ शब्दों के रूप उपर्युक्त दोनों कोटियों से भिन्न प्रकार के होते हैं। जैसे,

शब्द	रूप
अदस्	अमुयोः (पुं., स्त्री., दोनों में)
अस्मत्	आवयोः
इदम्	अनयोः (,, ,,)
गो	गवोः
युवन्	यूनोः
युष्मत्	युवयोः
विद्वस्	विदुषोः
श्वन्	शुनोः

क्रमशः

मनुष्यता का सम्मान

आप मनुष्य हैं। आपको कोई मानवशिरोमणि कहे, नरपुंगव कहे, मनुजर्षभ कहे, तो कितना गर्व होता है आपको अपने आप पर। आप फूले नहीं समाते, अपने आप में नहीं रह जाते। कभी यह भी सोचा है कि आप मनुष्यता के सम्मान की रक्षा क्यों नहीं कर पाते ? आप स्वयं मनुष्यता का सम्मान क्यों नहीं करते ? जब आप स्वयं अपना सम्मान नहीं करते तो दूसरे आपका सम्मान क्यों करने लगे ? बस, इसी लिए पद पद पर मानवता अपमानित होती रहती है।

समाचारपत्रों में समाचार था—मुरैना के नर्सिंग होम में एक डाक्टर को किसी व्यक्ति ने इस लिए फ़ीस नहीं दी कि उसने उसकी नवजात कन्या की जीवनलीला समाप्त नहीं की, उसके न चाहने पर भी उसे बचा लिया। हज़ारों कन्याओं को इसी तरह भार मानकर मौत के घाट उतार दिया जाता है। परिवारों में स्त्रियों को अपमानित और उत्पीड़ित किया जाता है। अब हमारे देश में स्त्रियों की ख़रीद-फ़रोख्त भी होने लगी है। यह सब मनुष्यता का अपमान नहीं है ?

आप किसी से बात करते हैं उस समय सामनेवाले व्यक्ति के सम्मान का कितना ध्यान रखते हैं? परिवार में सेवकों के साथ कितनी आत्मीयता दिखाते हैं ? अपने से बड़ों का कितना सम्मान करते हैं ? अपने से छोटों के प्रति कितनी आत्मीयता प्रदर्शित करते हैं ? और अपने समवयस्कों के साथ कितना स्नेह रखते हैं ? उत्पादक श्रम करनेवाले किसान और मज़दूर को कभी आपने नमन किया है ? दीन-हीनों की सहायता करनेवाले और रोगियों की सेवा में लीन हाथों को कभी आपने सहलाया है ? अनाथ बालक को कभी अपना अपनत्व देकर चूमा है ? सड़क चलते, ठोकर खाकर गिरे हुए को, उठकर चल पड़ने पर, कभी आपने शाबाशी दी है ? फिर क्या सम्मान किया आपने मनुष्यता का ?

मनुष्य और मनुष्य के बीच कितने सम्बन्धों की कल्पना की थी हमारे पुरखों ने ? वे सम्बन्ध कहां खोते चले जा रहे हैं ? विराट् समाज का प्यारा-दुलारा बन जीनेवाला मनुष्य आज अकेला क्यों पड़ता चला जा रहा है ? कारण केवल एक है—हम मनुष्यता का सम्मान करना भूल गए हैं। हम सब मनुष्य बन भी जाएँ तब भी आत्मविश्वास और गौरव के साथ जीना तो तभी होगा जब मनुष्यता का सम्मान करना सीखेंगे। दीन-हीन जीवन जीनेवाला भी मनुष्य कहा जाएगा ?

—पंचोली

प्रतिक्रिया

१) हर माह 'वेद-सविता' का ऐसा इंतज़ार रहता है मानो कोई खोई वस्तु प्राप्त होनी हो। इससे प्राप्त ज्ञान इसकी क़ीमत के मुक़ाबिले नगण्य है। आजकल श्री रामाश्रय शर्मा का प्रवचन, **धर्मशास्त्र: एक परिचय** ज्ञानवर्धक है।

—**सुधीरकुमार शर्मा**, बहादुरपुर जट्ट (सहारनपुर)

२) शिविरांक देखकर बड़ा उल्लास हुआ। यह एक नया मोड़ है। हर शिविर के बाद ऐसे शिविरांक का विचार सुन्दर है।

—**हरकृष्णलाल ओबराए**, नई दिल्ली

३) शिविरांक का प्रकाशन सराहनीय है।

—**फूलसिंह आर्य**, शिवसिंहनगर (इटावा)

४) 'शिविरांकों' की परंपरा का आरंभ 'वेद-सविता' की एक नई उपलब्धि है, जो सर्वप्रकारेण प्रशंसनीय तथा स्वागतयोग्य है। पाठकों को गृहस्थ-साधना के विषय में एक साथ इतनी ठोस शास्त्रीय जानकारी दे दी है कि वे प्रसन्न और तृप्त हो सकेंगे। इससे उन्हें शिविर की हल्की झांकी मिल गई है। आशा है, अगले शिविरों में इसका प्रभाव परिलक्षित होगा।

—**सोमचैतन्य श्रीवास्तव**, कोरापुट

५) 'आर्य-सन्देश' (दिल्ली) ने 'वेद-सविता' के सितम्बर, '८३-अंक (पृष्ठ ५७-५८) से 'जागते रहो' शीर्षक प्रवचन-सार 'भारत राष्ट्र में हम जागें' शीर्षक से उद्धृत किया है।

६) गत अंकों में श्रीमती शशि टंडन ने उद्बोधन किया है कि नारी अबला नहीं, सबला है, या वह सबला बने। वे नारी को कैसे, क्यों अबला मानती हैं? उन्हें अपनी मान्यता के ठोस आधारों की चर्चा करके सबला बनने के उपायों का श्रीगणेश करना चाहिए।

अगस्त-अंक में 'राष्ट्र-गान' के लेखक के अनुसार ऐसी युवतियों की राष्ट्र को आवश्यकता नहीं है जो अपनी रक्षा स्वयं न कर **सकती** हों। यदि वे स्वरक्षा न कर सकें तो भी ऐसा करने में स्वयं को **मार डालने में** उन्हें **सक्षम होना ही** चाहिए।

सितम्बर-अंक में पृष्ठ ५२ पर 'नारी की स्थिति' प्रवचन-सार में महिला ने **भी** अपनी हीन स्थिति स्वीकार करने की मनोवृत्ति **बना ली।**

ये दो अभिव्यक्तियां पुरुषवर्ग की हैं। पुरुष को नारी के प्रति अत्याचारी, अनुदार, अन्यायी मानते हुए भी वे नर को इस अधिकार से वंचित नहीं करते। वे नारी को मृत्युवरण वा आत्महत्या का अनैतिक, अवैधानिक, विरोधी परामर्श देते हैं। इन लेखकों को नारी की असमर्थताएं बताकर उनके निराकरण के उपाय भी सुझाने चाहिएं।

—**शीलस्वरूप शर्मा**, रांची

७) मैं पांच वर्षो से 'सविता' का स्वाध्याय कर रहा हूं। अगस्त, '८३ में पंचोली के **अमरता का ज्ञापक यज्ञ** के स्वाध्याय से अवर्णनीय आनन्द, मस्ती मिली। इस पत्रिका का नित्य स्वाध्याय करनेवाला आवागमन-चक्र से मुक्त होकर परमात्मा की गोद में लीन होगा, यह निश्चित है।—**धर्मचन्द्र खट्टर,** रुड़की

८) मैं 'सविता' का आरंभ से ही ग्राहक हूं जब

'विदेह'-स्मृति-प्रवचन

तपःसाधना-शिविर में, स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' के जन्मदिवस, १५ नवम्बर, १९८३ को रात्रि-आयोजन में लगभग ८ बजे से श्री **जगदीशचन्द्र शर्मा 'शैलेन्द्र'** "स्वामी 'विदेह' का तपोमय जीवन" विषय पर 'विदेह'-स्मृति-प्रवचन करेंगे।

इसका ८-पृष्ठों में निकलना आरंभ हुआ था, गागर में सागर बनकर। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' अपने बचपन में ही यह वैदिक साहित्य का सुपुष्ट आहार लेकर निर्धारित समय पर अपने चहेतों के पास पहुंचा करती थी। हिन्दी मासिकों में शायद यह पहली पत्रिका थी निर्धारित समय पर निकलनेवाली। स्वामी 'विदेह' ने अपने जीवनकाल में ही 'सविता' और वेद-संस्थान को वैदिक साहित्य के प्रचार-प्रसार का विश्वविदित केन्द्र बना दिया था। उनके दिवंगत होने पर संदेह होने लगा था कि मंझधार में पड़ी इस नाव की क्या दशा होगी। पर अब सबको विश्वास होने लगा है कि महर्षि 'विदेह' की साध की पूर्ति आपके द्वारा होकर रहेगी। आरंभ से ही 'सविता' पर मेरी स्वभाविक ममता है।

—**रामवचन द्विवेदी 'अरविन्द'**, पटना

मूल्याङ्कन

दयानन्द-चरितामृत : सामान्य जनता के लिए अतीव उपयोगी है। दोहे, चौपाई और लावनी के साथ इसमें कुछ ऐसे गीत भी हैं जो उत्सवों में गाए जा सकते हैं। इसका प्रकाशन उपयुक्त समय पर ही हुआ है। १६२५ में इसका प्रथम प्रकाशन था; फिर दूसरा संस्करण भी निकला। अब यह तृतीय संस्करण है।

—**मुंशीराम शर्मा 'सोम'**, कानपुर

वेदव्याख्या-ग्रन्थ : प्रथम पुष्प किसी मित्र से मिला। पढकर बहुत शान्ति प्राप्त हुई। वेदों पर इतना सुन्दर ग्रन्थ मैंने नहीं देखा। व्याख्या-प्रणाली बहुत ही सुन्दर है।

—**प्रेमचन्द**, अम्बाला नगर

तपः-साधना-शिविर

इस शिविर का साध्य विषय तप होगा। अतः इस शिविर में साधक तपः-केन्द्रित साधना करेंगे, जैसे,

- ❊ तपो-याग ('तपः'-शब्द-वाले वेदमन्त्रों से यज्ञ)
- ❊ 'तपः'-शब्द-वाले वेदमन्त्रों का अध्ययन-अध्यापन
- ❊ 'वैदिक 'तपः' का स्वरूप' पर प्रवचनमाला
- ❊ 'तपः'-परक वेदमन्त्रों पर आधारित सार्वजनिक वेदप्रवचन
- ❊ तप की आधुनिक जीवन में अनिवार्यता का प्रतिपादन
- ❊ तपस्वियों के चरितों का पावन स्मरण
- ❊ तपःसंगीत (तपः-परक गीतों का गान)
- ❊ 'तपस्वी'-दीक्षाग्रहण

'मौन, स्वाध्याय, स्वनिरीक्षण, एकान्तसेवन'— यह साधकों की दिनचर्या होगी। इस शिविर में आप इतना पाएंगे कि समेटते थक जाएंगे। अपने जीवन में ऐसा अवसर आपको फिर नहीं मिलेगा। अतः अवश्य पधारें। पहले से स्थान-आरक्षण कराए बिना कोई महानुभाव शिविर में न पधारें।

स्थान-आरक्षण, आदि के लिए सम्पर्क-सूत्र : **हरकृष्णलाल ओबराय,** सचिव, साधना-सदन, वेद-संस्थान, सी २२, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली ११० ०२७ [दूरभाष : ५० २३१६]

संस्थान-समाचार

अजमेर

'वेदामृत' : ४, १८, २५ सितम्बर को **अभयदेव** को, ११ को **सुधीन्द्रनाथ आचार्य** के वेदप्रवचन हुए।

विशेषांक-सहायता : 'दयानन्द-स्वप्नांक' के लिए निम्न सहायता हाल में प्राप्त हुई है। सर्वश्री **मेघजी नेनशी**, मस्कट; **रामकृष्ण गम्भीर**, नई दिल्ली से दान, तथा लक्ष्मीदास थारिया वेद, मस्कट से एक प्रसादपृष्ठ। इन महानुभावों का धन्यवाद है।

—**विश्वदेव शर्मा**, मन्त्री

नई दिल्ली ११० ०२७

सी २२, राजौरी गार्डन (दूरभाष : ५० २३१६)

साधना-सदन

दैनिक, महिला-सत्संग : सितम्बर, '८३ में यथा-पूर्व होते रहे।

मासिक सत्संग : ११ सितम्बर को हुआ। सइमें संस्थानाध्यक्ष, **अभयदेव** का वेदप्रवचन 'पूर्णता' विषय पर हुआ।

ब्रह्म-सदन

स्वामी दयानन्द 'विदेह' के वेदप्रवचन भटिण्डा, श्रीगंगानगर, नाभा, कपूरथला में हुए।

शोध-सदन

शोध-सदन के अध्यक्ष, डॉ **फतहसिंह** की अभिनव कृति, **स्वामी दयानन्द और उनका वेदभाष्य** का विमोचन ९ अक्टूबर, '८३ को डॉ **लोकेशचन्द्र** द्वारा सम्पन्न हुआ।

अर्थ-सदन

नवीन होता : वेदनिष्ठ : श्री खै रातीराम (श्रीगंगानगर)। **पोषक :** सर्वश्री अनिलकुमार सचदेवा, दिल्ली; अशोक आर्य, नाभा; जगन्नाथ मलहोत्रा, दिल्ली; निर्मला तलवानी, रामदेव वानप्रस्थ।

– **गन्धर्वराज पुरी**, कार्यालयमन्त्री

आवश्यकता

वेद-संस्थान, नई दिल्ली के वैदिक शोधकार्य के लिए एक शोध-सहायक की आवश्यकता है। शोध-अनुभवी को प्राथम्य दिया जाएगा। गृहस्थ-निवृत्त, और समर्पण (मिशनरी) भाव-वाले हों तो बहतर। अपनी योग्यता, अपेक्षित निर्वाहवृत्ति, आदि की पूरी सूचना के साथ लिखें–डॉ **फतहसिंह** (अध्यक्ष, शोध-सदन), वेद-संस्थान, सी २२, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली ११० ०२७ [दूरभाष : ५० २३१६]

वज्रपात

वेद-संस्थान, नई दिल्ली की कर्तृ समिति की भूतपूर्व सदस्या, भूतपूर्व पोषक होता, 'वेद-सविता' की ग्राहिका श्रीमती सुशीला कोछड़ का आकस्मिक देहान्त रविवार, ९ अक्टूबर, १९८३ को प्रातः राजौरी गार्डन, नई दिल्ली में दिल्ली ट्रांसपोर्ट अण्डरटेकिंग की एक बस, जो चालक के वश से बाहर होकर फुटपाथ पर चढ़कर दुकानों तक से जा टकराई, की ज़ोरदार टक्कर लगने से हो गई।

श्रीमती कोछड़ एक विवाहिता पुत्री और अपने पतिदेव, जो पैरों के कष्ट के कारण पूर्णतया उन पर निर्भर थे, को अपने पीछे छोड़ गईं। कैप्टेन श्री कोछड़ के लिए अपनी सहधर्मिणी का आकस्मिक निधन वज्रपात है। क्षण का पता नहीं, कब क्या हो जाए!

अन्तर्यामी दिवंगत पावन आत्मा को, जिनकी यज्ञ, दान, धार्मिक सेवा कार्यों में प्रगाढ लग्न थी, चिर शान्ति प्रदान करें। कैप्टेन श्री कोछड़ को धीरज बंधाने के लिए शब्द कहां से लाए जाएं। वे वीर पुरुष हैं। भगवान् उन्हें धैर्य देंगे।

—**अभयदेव**, अध्यक्ष, वेद-संस्थान

शत-हस्त ! सम्-आ-हर, सहस्र-हस्त ! सं किर । अथर्ववेद ३.२४.५

प्रजापति का प्रत्यक्ष नमूना वृक्ष है । प्रजापति-वत् वह अपने मूल-रूप सौ हाथों से अपना पोषण समेटता है, तो शाखा-रूप सहस्र हाथों से वह अपने फल बांटता है । इसी प्रकार के आचरण से मनुष्य भी प्रजापति का साक्षात् नमूना बन सकता है । मानव विपुल शक्ति और साधन संचय करने में जितना उद्यम करे, उससे दस-गुना पुरुषार्थ विश्वसेवा में अपनी शक्ति और समृद्धि को समर्पण करने में करे ।

'वेद-सविता' के 'दयानन्द-स्वप्नांक' के सुन्दर प्रकाशन के लिए वेद-संस्थान को बधाई !

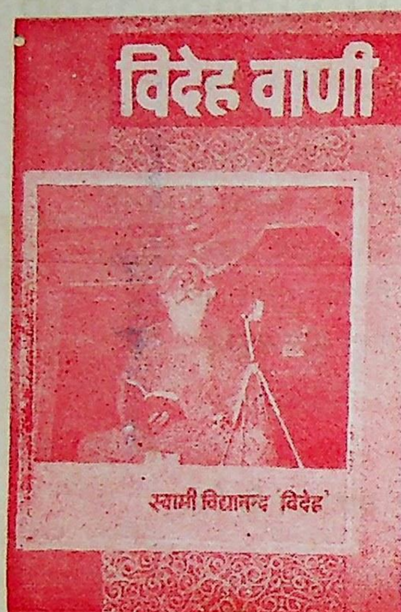
यह शुभकामना भी, कि
महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा प्रवर्तित,
और उनके अद्वितीय शिष्य, स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' द्वारा
सुदृढ आधार पर स्थापित वेदप्रचार-कार्य को

वेद-संस्थान

और भी उत्साह तथा योग्यता से करता रहे ।

इसमें सब प्रकार का भरपूर सहयोग स्वतःप्रेरणा से प्रदान करना सब वेदनिष्ठों तथा मानवताप्रेमियों का पावन धर्म है ।

लक्ष्मीदास थारिया वेद
पो. बॉ. नं. ३४, मस्कट (सल्तनत आव् ओमान)
द्वारा सादर, सप्रेम भेंट



प्रथम उद्गार
के प्रवचन

गृहस्थ की मर्यादाएं
आत्मसाधना
नौकर बनो
अपामार्ग
जीवनपद्धति

रु ५.००

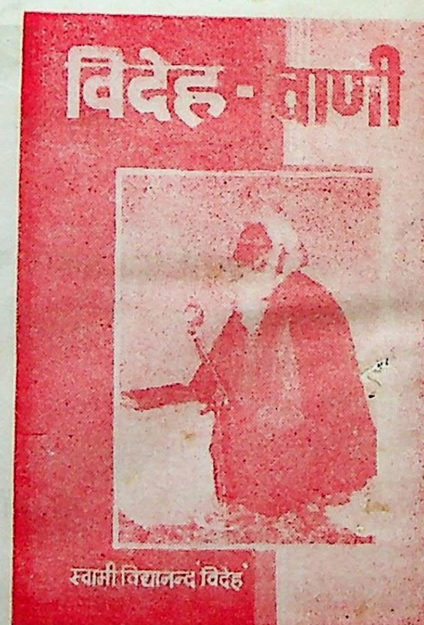
'विदेह'-वाणी

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' के वेदप्रवचन
छह खण्डों में प्राकाश्य; प्रत्येक उद्गार रु ५/-
प्रथम तीन उद्गार दीपावली पर प्राप्य होंगे।

द्वितीय उद्गार
के प्रवचन

दर्शन के अधिकारी
योग का मार्ग
उसको जानो
गोपाल
यज्ञ-संस्कृति
वेदमाता द्वारा प्रशंसित

रु ५.००



रजिस्टर्ड सं. आर जे (अजमेर) ३३ Licensed to post without pre-payment. लाइसेंस सं. पी पी ३१

